मुद्रक : न्यू इंडिया प्रेस, कनाट सर्कस, नई दिल्ली।

मूल्य : पांच रुपये

प्रथमावृत्ति
प्रति २०००

सन् १९५८ वि०सं० २०१५
वीर सं० २४८४, शाके १८८०

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के
आचार्य जैनधर्म दिवाकर,
जैनागम रत्नाकर

श्री आत्माराम जी महाराज

की

सम्मति

बहुत वर्षो से ऐसी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो एक अजैन व्यक्ति को जैन सिद्धांतों का परिचय कराए। संतोष का विषय है कि एस० एस० जैन कान्फ्रेस के कर्मठ और जैन धर्म प्रभावक कार्यकर्त्ताओं ने इस ओर ध्यान दिया है और जैनधर्म नाम की पुस्तक तैयार करवाई है। पुस्तक मैंने आद्योपान्त सुनी है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से सन्तोषप्रद है। वर्षो से समाज को जो कमी खटक रही थी, आशा है उसे पूरा करने मे यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी।

अन्य सम्मतियाँ

भारतीय गणतंत्र के उपराष्ट्रपति, विश्वविख्यात दार्शनिक सर्वपल्ली डाक्टर राधाकृष्णन्

मै दृढता पूर्वक कह सकता हूँ कि आज के युग मे राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं में अहिंसा का हमारे लिये महान् मूल्य है। फिर भी वाधा यह है कि हम अहिंसा के सम्बन्ध में वात करते है, किन्तु अहिंसा को जीवन में नहीं उतारते। यदि यह ग्रन्थ (जैन धर्म) पाठकों के अन्त करण में अहिंसा की प्रतिष्ठा कर सका तो यह महान्‌तम कार्य होगा।

सितम्बर २६-१९५८
नई दिल्ली

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त, एम० पी०

श्री मुनि सुशील कुमार जी ने यह ग्रन्थ लिख कर मेरी सम्मति मे राष्ट्र भारती को एक रत्न की भेंट दी है। इससे जैन धर्म का विश्वसनीय स्वरूप समझने में सहायता मिलेगी। कारण, यह एक अधिकारी विद्वान् के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। बीच-बीच में रमणीय उद्धरणों ने इसे और भी स्मरणीय बना दिया है।

नई दिल्ली
२६-[illegible]-५८

मैथिली शरण

प्रस्तावना

मै 'जैनधर्म', ग्रन्थ का अभिनन्दन करते हुए परमानन्द का अनुभव कर रहा हूँ क्योंकि आदरणीय सुशील कुमार जी जैसे महामुनि इस ग्रन्थ के लेखक है और फिर विद्वान् एवं विद्यार्थी तथा साथ ही सामान्य मुमुक्षु सज्जनो के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपादेय है। ग्रन्थ की भाषा सरल एवं सुन्दर हिन्दी रखी गई है।

मुनि सुशीलकुमार जी स्वयं संस्कृत के एक प्रकाण्ड पण्डित हैं, उनके जीवन मे जैनधर्म का तत्वज्ञान व जैनधर्म का आचारधर्म दोनो ही साकार हो उठे हैं। जैनधर्म के प्रसार मे उन्होने अपने (जैनसाधु) जीवन का उत्सर्ग किया है। यह ग्रन्थ उन्ही के द्वारा निर्माण हुआ है। अहिंसा जैनधर्म का सर्वोच्च सिद्धान्त है। अहिंसा के विश्वव्यापी प्रचार के लिए मुनि जी कृतसकल्प ही नहीं, अपितु उनके जीवन का परम उद्देश्य है। आज जगत् द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त तृतीय शीतयुद्ध की आशंका से आक्रान्त है। मानव जाति की रक्षा के लिए अहिंसा की भावना को जगत् और जीवन के सभी क्षेत्रों मे प्रतिष्ठापित करने के लिए कोई कसर उठा नहीं रखनी चाहिए। अहिंसा के सद्भाव से ही मानवता जीवित रह सकती है, शान्ति साँस ले सकती है और विश्व को विध्वंस और विनाश के महाप्रलय में विलीन कर देने वाले शस्त्रो व अस्त्रो से सुरक्षित रखा जा सकता है। युद्ध एवं शस्त्रों का उत्तर अहिंसा है।

भारत के महान् संतों जैसे जैनधर्म के तीर्थंकर ऋषभदेव व भ० महावीर के उपदेशों को हमें पढ़ना चाहिए। आज उन्हें अपने जीवन म उतारने का सबसे ठीक समय आ पहुँचा है। क्योंकि जैनधर्म का तत्वज्ञान अनेकान्त (सापेक्ष्य पद्धति) पर आधारित है, और जैनधर्म का आचार अहिंसा पर प्रतिष्ठापित। जैनधर्म कोई पारस्परिक विचारो, ऐहिक व पारलौकिक मान्यताओ पर अन्ध श्रद्धा रखकर चलने वाला सम्प्रदाय नही है, वह मूलतः एक विशुद्ध वैज्ञानिक धर्म है। उसका विकास एवं प्रसार वैज्ञानिक ढंग से हुआ है। क्योंकि जैनधर्म का भौतिक विज्ञान, और आत्मविद्या का क्रमिक अन्वेषण आधुनिक विज्ञान के सिद्धान्तो से समानता रखता है। जैनधर्म ने विज्ञान के उन सभी प्रमुख सिद्धान्तो का विस्तृत वर्णन किया है। जैसे कि पदार्थ विद्या, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान, और काल, गति, स्थिति, आकाश एवं तत्वानुसंधान। श्री जगदीश चन्द्र बसु ने वनस्पति मे जीवन के अस्तित्व को सिद्ध कर जैनधर्म के पवित्र धर्मशास्त्र भगवती सूत्र के वनस्पति कायिक जीवों के चेतनत्व को प्रमाणित किया है।

प्रत्येक धर्म ने मानव जाति के लिए नये-नये ज्ञानक्षेत्रो को खोला है। यही कारण है कि प्रत्येक धर्म अपने आप में कुछ असाधारण विशेषताओं से युक्त

होता है। जैनधर्म की विशेषता एवं महानता अनेकान्त एव अहिंसा के सर्वाङ्गीण विवेचन पर प्रतिष्ठित है। सभी धर्म आत्मा की मुक्ति पर विश्वास करते है। जन्म एवं पुनर्जन्म के भव-भ्रमण से वियुक्त हो जाना ही अपना परम ध्येय मानते है। जेसा कि महावीर स्वामी ने सूत्र कृतांग मे बताया है कि :—

"निव्वाण सेट्ठा जह सव्व धम्मा।"

अर्थात् सभी धर्मो का अन्तिम ध्येय मुक्ति है। जैनधर्म भी निर्वाण प्राप्ति को ही धर्म साधना का अन्तिम साध्य मानता है। और इसी उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त उसने मोक्ष मार्ग का विधान किया है। जो तीन सिद्धान्तों का समन्वित स्वरूप है। जैसे कि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, व सम्यक् चारित्र तीनों संयुक्त रूप मे मोक्ष का मार्ग है।

मुझे यह देखकर हर्ष हुआ है कि श्रद्धेय मुनि सुशीलकुमार जी ने यह ग्रन्थ जैनशास्त्रो के आधार पर तैयार किया है। जिससे जैनधर्म के प्रामाणिक स्वरूप को संक्षिप्त एव सुरुचिपूर्ण ढंग से पाठक प्राप्त कर सकें।

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी सामग्री दिगम्बर (षट्खण्डागम् समयसार, श्रावकाचार आदि) एवं श्वेताम्बर (अंग, उपांग, मूल छेद, व जैनाचार्यो के ग्रन्थ, उमास्वाती का तत्वार्थसूत्र) आगमो से संचित की गई है। समूचा ग्रन्थ तीन खण्डो में विभाजित है। ज्ञान खण्ड, दर्शन खण्ड, एवं चारित्र खण्ड। इन्हे क्रमशः वर्गीकृत कर १३ अध्यायो मे विभक्त कर दिया गया है। ग्रन्थ में जैन इतिहास व जैन संस्कृति का संक्षिप्त दिग्दर्शन भी कराया गया है। विद्वान् लेखक ने साम्प्रदायिक व विवादास्पद मतभेदो को ग्रन्थ से दूर ही रखा है। लेखक ने 'अतीत की झलक व जैन सभ्यता' में इस तथ्य को अधिक सुन्दरता से स्पष्ट किया है कि जैनधर्म आर्यधर्म है। जैनधर्म के सभी तीर्थंकर आर्य थे और जैनधर्म का पुराना नाम आर्य धर्म ही था। वैदिक धर्म, जैनधर्म व बुद्ध धर्म, आर्यधर्म के ही अग है। दर्शन एव सिद्धान्तो के दृष्टिकोण से ये सब भिन्न-भिन्न है, परन्तु इन सब की संस्कृति एवं पृष्ठभूमि एक समान है। क्योकि इन सब का उद्गम स्थान एक ही है।

मुझे इसमें किंचित् भी सन्देह नही कि इस ग्रन्थ का धार्मिक क्षेत्रो में स्वागत किया जायेगा। यह ग्रन्थ विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओ को महान् जैनधर्म के समझने व उनके प्रति धारणा बनाने में सहायता करेगा। मुझे विश्वास है कि परम आदरणीय मुनि सुशील कुमार जी महाराज का यह जैनधर्म के प्रसार के निमित्त किया गया गुरुतर प्रयास अवश्य सुफल लायेगा।

नई दिल्ली,
अक्तूबर १, १९५८।

अनंतशयनम् आयंगर,
अध्यक्ष लोकसभा, नई दिल्ली

समर्पण-पत्र

श्री वर्द्धमान स्था० जैन श्रमण संघ के

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

तथा

उपाचार्य श्री गणेशी लाल जी महाराज

को

सादर समर्पण

विनयावनत

मुनि सुशील कुमार

आत्म-निवेदन

जैनागमों के आधार पर, जैन धर्म के सम्बन्ध में सही जानकारी जगत् के विद्वानों, धर्म जिज्ञासुओ व विद्यार्थियो के सामने रखने की मेरे मन में वहुत देर से आकांक्षा रही है।

अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस ने ठीक इसी आशय का एक प्रस्ताव पास कर इस प्रकार की जैन धर्म पर समन्वयात्मक पुस्तक लिखने का अनुरोध मेरे से व आत्मार्थी मोहन ऋषि जी म०एवं महासती उज्ज्वल कुमारी जी से किया था। यह मेरे मन की वात थी। मैंने वम्वई के निकट लोनावाला जैन वन्धुओं की प्रार्थना स्वीकार कर पार्वतीय सुरम्य वातावरण में वहुत शीघ्र ही सारा मसविदा तैयार कर लिया। चार वर्ष के वाद वह पुस्तक आज पाठकों के सामने है।

महासती जी द्वारा प्रेषित पुस्तक का सहकार एवं जैन समाज के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल का सम्पादन इस पुस्तक के संवर्धन में सहयोगी रहा है।

मेरे जैन धर्म पुस्तक लिखने का आशय श्वेताम्वर एवं दिगम्वर आगमों के आधार पर जैन समाज की धार्मिक एकता को प्रोत्साहन देना है। और साथ ही साथ जैन धर्म के संबंध में फैलाई गयी भ्रान्तियो को दूर कर जैन धर्म की गहराइयों की ओर भी संसार का ध्यान आकर्षित करना है। पुस्तक में १३ अध्याय हैं, जैन इतिहास, जैन तत्वज्ञान, जैन समाज, जैन सभ्यता और जैनाचार पद्धति आदि सभी का परिचय इस पुस्तक में शास्त्रीय आधार पर देने का प्रयत्न किया गया है। भूलें होना स्वाभाविक है, जैन धर्म जैसे अगाध तत्वज्ञान एवं विशाल वाङ्मय से परिपूर्ण धर्म का परिचय देना मेरे जैसे अनभिज्ञ गीतार्थी के लिए अत्यन्त कठिन है, किन्तु श्रद्धावश यह मेरी प्रेमाञ्जलि है।

अन्त में मैं जैन समाज के कर्मठ सेवी भगवान् महावीर के अनन्य उपासक श्री कुन्दनमल जी फिरोदिया, स्व० श्री विनय चन्द भाई जौहरी, आनन्दराज सुराणा एवं स्व० श्री जगन्नाथ जी जैनी को भूल नहीं सकता जिनकी उत्साह भरी प्रेरणाएँ पुस्तक लेखन में मुझे उल्लसित करती रही है।

—मुनि सुशील कुमार

प्रकाशकीय

अहिंसा आज विश्व-धर्म है। युद्ध एवं विनाश ने अहिंसा के महत्व को जगत् के सामने धौली-धूप की तरह स्पष्ट कर दिया है। व्यक्ति एवं समष्टि की सुरक्षा, शोषणहीन समाज की कल्पना, न्याय व समानता के मानवीय सिद्धान्त अहिंसा के विना कभी साकार नही हो सकते। गाधी जी के अवतरण के बाद संसार ने अहिंसा की खोज प्रारंभ की है। किन्तु जैन-धर्म अहिंसा का संदेश और साधना को लिए प्राचीनकाल से ही मानव जाति की सेवा कर रहा है। तथापि खेद है कि जैन धर्म के उदार सिद्धान्तो व मौलिक मान्यताओं तथा दिव्य धारणाओं और अलौकिक गूढ़ विद्याओ का लोकव्यापी प्रचार न किया जा सका। यही कारण है कि स्कूल-कालेज व विश्व-विद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में जैन धर्म को लेकर अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएं प्रसारित की गईं है।

भारतवर्ष तो अहिंसा प्रधान है ही; परन्तु आज समस्त विश्व अहिंसा और शान्ति की ओर झांक रहा है, जैनधर्म में अहिंसा का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप बताया गया है, अन्यत्र कहीं भी अहिंसा का ऐसा सूक्ष्म और विराट् स्वरूप नहीं मिलेगा।

अतः अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन कांफ्रेंस ने जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के परिचय के रूप में एक सर्वमान्य पुस्तक प्रकाशित करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पारित किया था। उसी के अनुसार आज "जैन धर्म" पुस्तक को प्रकाशित कर पाठकों को समर्पित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है।

पुस्तक के लेखक हैं विश्व-धर्म सम्मेलन के प्रेरक प्रसिद्ध संत मुनि सुशील-कुमार जी। सहकार के रूप में आत्मार्थी मोहन ऋषि म० तथा महासती उज्ज्वल-कुमारी जी, उन्ही के द्वारा लिखित जैन धर्म पुस्तक की इसमें सहायता ली गई है। एतदर्थ हम अपनी तथा अ० भा० श्वे० स्था० जैन कांफ्रेंस की ओर से उनके आभारी हैं।

मुनि सुशील-कुमार जी ने अत्यन्त कार्यव्यस्त होने पर भी जो पुस्तक लेखन व संशोधन सम्बन्धी योग दिया है वह सराहनीय है।

इस पुस्तक में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता न आवे और जैन सिद्धान्तों का सर्वमान्य परिचय मिले, यही दृष्टि रक्खी गई है। जैनों को अपने धर्म का परिचय और ज्ञान हो और अजैनो को भी जैन धर्म की जानकारी मिले यही इस 'जैन धर्म' पुस्तक का ध्येय है।

'जैनधर्म' का अधिक से अधिक प्रचार हो इस दृष्टि से इस पुस्तक का अनुवाद गुजराती, मराठी, तामिल आदि भारतीय भाषाओं में तथा अंग्रेजी, जर्मनी, फ्रेन्च आदि विदेशी भाषाओ में भी प्रकाशित करने की हमारी भावना है।

पुस्तक-सम्पादन में प्रसिद्ध पंडित श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने महत्त्व-पूर्ण योग दे कर हमारी चिरकालीन महान् अभिलाषा पूर्ण की है। एतदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं।

हम श्री अनंतशयनम् आयंगर, अध्यक्ष लोक सभा के अत्यंत आभारी हैं कि जिन्होंने अत्यधिक कार्य व्यस्तता में भी इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने की कृपा की। प्रस्तावना में जैन धर्म के प्रति उनकी उदाराशयता हमारे लिये स्पृहणीय है।

इनके अतिरिक्त श्री शान्ति लाल वनमाली सेठ, श्री भूपराज जैन एम० ए०, श्री जिनेन्द्र मानव, श्री सोमनाथ जोशी शास्त्री प्रभाकर का प्रूफ संशोधन आदि का समय-समय पर दिया गया सहयोग विस्मृत नहीं किया जा सकता।

यद्यपि अशुद्धियों की ओर से पर्याप्त सतर्क रहा गया, फिर भी कई त्रुटियों का रहना संभव है। यदि पाठक अशुद्धियां सूचित करने का कष्ट करेंगे तो आगामी संस्करण में परिष्कृत की जा सकेंगी।

विनीत

आनन्दराज सुराणा (भूतपूर्व एम एल.ए.)
जसवंतराज मेहता, एम०पी०,
सौभाग्यमल जैन, (भूतपूर्व वित्त मंत्री)
धीरजलाल केशवलाल तुरखिया,
खीमचन्द मगनलाल वोरा

मंत्री अ० भा० श्वे० स्था० जैन कांफ्रेंस, नई दिल्ली

विजयादशमी (आसोज शु० १०)
वीर सं० २४८४ वि० सं० २०१५
ता० २१-१०-५८

कहाँ क्या ?



मंगलाचरण

नमस्कारमंत्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाण, णमो आयरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥

(भगवती सूत्र, पाठ १।

अर्थात् अर्हन्तो को नमस्कार हो, सिद्धो को नमस्कार हो, आचार्यो को नमस्कार हो, उपाध्यायो को नमस्कार हो, और लोक के समस्त साधुजनो को नमस्कार हो।

मंगलपाठ

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।

चत्तारि लोगुत्तमा, अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।

चत्तारि सरणं पवज्जामि, अरिहिंता सरणं पवज्जामि, सिद्धासरणं पवज्जामि, साहूसरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पवज्जामि।

अर्थात् चार मंगल हैं --

१. अर्हन्त मगल है, २. सिद्ध मगल है, ३. साधु मगल है, ४. केवली द्वारा प्ररूपित धर्म मगल है।

लोक में चार उत्तम है --

१. अर्हन्त, लोक मे उत्तम है, २. सिद्ध, लोक में उत्तम है, ३ साधु, लोक में उत्तम है, ४. केवली द्वारा प्ररूपित धर्म, लोक में उत्तम है।

मै चार शरण ग्रहण करता हू --

१. अर्हन्त की शरण ग्रहण करता हू, २. सिद्ध की शरण ग्रहण करता हूं, ३. साधु की शरण ग्रहण करता हू, ४. केवली द्वारा प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण करता हू।

आशीर्वाद

नाणेणं दंसणेणं च चरित्तेणं तवेण य ।
खन्तीए मुत्तिए, वड्ढमाणो भवाहि य ।।

—उत्तराध्ययन, अ० २२, गा० २६ ।

"सद् ज्ञान, अटूट निष्ठा, तथा चारित्र बल के सहारे तप, क्षमा, और निर्लोभता के सम्बल से तुम सदा वृद्धि पाते रहना ।"

न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे, समय गोयम मा पमायए॥
बुद्धे परिनिव्वुडे चरे, गामगए नगरेव संजए।
संतिमग्गं च वूहए, समयं गोयम! मा पमायए॥

—उत्तराध्ययन, अ० १०—गा० ३१-३६।

"हे गौतम! मेरे निर्वाण के बाद लोग कहेंगे—निश्चय ही अब कोई जिन नही देखा जाता।"

पर "हे गौतम! मेरा उपदिष्ट और विविध दृष्टियों से प्रतिपादित मार्ग ही तुम्हारे लिए पथप्रदर्शक रहेगा।"

ग्राम या नगर जहाँ भी जाओ, वहाँ संयत रहकर शान्ति मार्ग का प्रसार करना, अहिंसा मार्ग का प्रचार करना क्योंकि :—

"शान्ति" मार्ग पर चलने से ही धर्म के स्वरुप का साक्षात्कार होता है।"

जैन धर्म का स्वरूप

जैन धर्म का स्वरूप

धर्म को लेकर प्राचीन काल से ही चिन्तको में मतभेद रहा है। उसी मत-विविधता का फल यह निकला कि आज जगत मे धर्म की २२०० सम्प्रदाये अस्तित्व म आ चुकी है। और भी अन्य सम्प्रदायों का नए-नए सम्प्रदायो के रूप में परिवर्तन होता चला जा रहा है। मानवजाति के साथ यह खेद-जन्य घटना प्रारम्भ से ही घटित होती रही है, कि धर्म की शक्ति सदा से साम्प्रदायिको के हाथो का खिलौना रही है और विज्ञान की शक्ति राजनीतिज्ञो के इशारो पर नाचती रही है। धर्म और विज्ञान सत्य का अनुसधान करते-करते मनुष्य को मिले है। धर्मों के अनुसधान की जन्म-भूमि एशिया है। एशिया के भूखण्डो से ही निकली हुई धर्म की धाराओ ने समूचे जगत को आप्लावित किया है। भारतवर्ष धर्म के अनुसंधान मे सबसे आगे है। जैन, वैदिक और बौद्ध-धर्म की धाराएं इसी देश से निकली है, यद्यपि जर्थोस्थ, यहूदी, ईसाई, इस्लाम-धर्म की परम्पराएँ ईरान, पैलेस्टाइन और अरब के जन-मानस से प्रस्फुटित हुई है और लाओत्से ताओ और कन्फ्यूशियस तथा सिन्तो धर्म की धाराओ ने चीन और जापान को धर्म का पाठ पढाया है।

जगत के इन तमाम धर्म-प्रवर्तको ने ऐसा कभी नही कहा कि हम एक नया धर्म प्रवर्तित कर रहे है, अपितु उन सब ने एक ही स्वर मे उद्घोषित किया है

कि हम उसी एक अखण्ड सत्य को प्रकट कर रहे है जो त्रिकालाबाधित रूप से सदा विद्यमान् रहा है।

भगवान् महावीर कहते है—"जो जिन अर्हन्त भगवन्त भूतकाल में हुए, वर्तमानकाल मे हैं, भविष्य मे होगे उन सबका एक ही शाश्वत धर्म होगा, एक ही ध्रुव प्ररूपणा होगी और वह यह कि "सव्वे जीवा न हन्तव्वा" किसी जीव की हिसा मत करो, किसी को मत सताओ और न किसी के पराधीन बनो, एवं न किसी को पराधीन बनाओ।"

भगवान् बुद्ध ने कहा —"भिक्षुको ! मैंने एक प्राचीन राह देखी है, एक ऐसा प्राचीन मार्ग जो कि प्राचीनकाल के अरिहन्तो द्वारा अपनाया गया था, मै उसी पर चला और चलते हुए मुझे कई तत्वो का रहस्य मिला।"

ऋग्वेद का मन्त्र है —"एक सद विप्रा बहुधा वदन्ति" "सत् एक है, विद्वान् अनेको प्रकार से उसका प्रतिपादन करते है।"

जगत के समस्त धर्म, धर्म नही है अपितु धर्म की व्याख्याये है, पूर्ण सत्य नही है, सत्य की खोजे है। ये सब सत्य के अनुसधान है। समन्वित रूप में अखण्ड सत्य का दिङनिर्देश करते है।

जैनधर्म उसे ही अनेकान्त धर्म कहता है, वही पूर्ण है और शाश्वत है क्योकि अनेकान्त में ऐकान्तिक आग्रह नही। आग्रह का यह फल हुआ कि आज धर्म की सात सौ व्याख्याये हमारे भारतवर्ष मे उपलब्ध है, किन्तु वे सब एक दूसरे से भिन्न है और उनके मानने वाले भी भिन्नता की ओर बहे जा रहे है। धर्म के उस परमैक्य और असहमत सगम से हम दूर होते जा रहे है। निश्चित है, एक-पक्षीयता अधूरेपन को सदा से जन्म देती आई है, अन्यथा धर्मों का मतभेद और विवाद आग्रह पर खडा न होकर स्वरूप पर खड़ा होता, सत्य और तत्त्व पर आधारित होता। वस्तुत स्वरूप से समस्त धर्म एक है।

भगवान् महावीर ने अपने युग के ३६३ धर्मो का वर्णन किया है जिनमें कुछ क्रियावादी और कुछ विनयवादी, एवं कुछ अज्ञानवादी सम्प्रदाये थी। पर उनमें समन्वय नही था, यही एक सबसे बडी भूल रही है कि धर्म के एक पक्ष पर हम बल दे देते है और दूसरे पक्ष से हम पीछे रह जाते है। इसी से आग्रह-वृत्ति का उदय होता है। स्थानाग सूत्र के द्वितीय स्थान मे भगवान् महावीर ने बताया है कि धर्म के दो पक्ष है—[1] एक श्रुत और दूसरा चारित्र।

---

१. श्रुत के तीन प्रकार है :—सम्यक् श्रुत, नयश्रुत, मिथ्याश्रुत।

न्यायावतार ॥

श्रुत का अर्थ ज्ञान और चारित्र का अर्थ सदाचार है। ज्ञान क द्वारा विकास और उद्देश्य की खोज करना, प्राप्ति के मार्ग ढूढना, और चारित्र का अर्थ है—कि उन सम्यग्मार्गो पर चलकर लक्ष्य-सिद्धि प्राप्त करना । खोज के लिए प्रकाश चाहिए वह ज्ञान देता है, और सदाचार हमे निर्वाण देता है। इमी को श्रुत-धर्म के सहायक रूप मे ग्राम-धर्म, नगर-धर्म आदि के दस भेदो[1] को भी धर्म का रूप दिया गया है। धर्म का वास्तविक उद्देश्य बहिर्मुखता से हमे अन्तर्मुखी बनाना है। हमारा सर्वस्व शरीर नही, आत्मा है। शरीर का सुख काम्य सुख है, किन्तु हमारा अपना सुख काम्य सुख नही हो सकता क्योकि वह नाशशील है। इसीलिए जगत के वे तमाम धर्म जो हमे बलि के द्वारा अथवा यज्ञ के द्वारा स्वर्गीय सुखो का आश्वासन बधाते है, वे आध्यात्मिक आनन्द के परमोद्देश्य को प्राप्त करने वाले साधको के लिए ग्राह्य नही है। उनको तो आत्मा का आनन्द चाहिए। आनन्द और सुख मे यही सबसे बडा अन्तर है कि सुख ऐन्द्रिय होता है और आनन्द आध्यात्मिक।

आध्यात्मिक आनन्द नित्य, शाश्वत और 'ध्रुव' है। आनन्द की प्राप्ति मे सबसे बड़ी बाधा स्वभाव-विपरीतता और विभावो की प्रधानता है। भगवान् महावीर ने फर्माया है—कि "अज्ञान से मिथ्यात्व और मिथ्यात्व से अव्रत और अव्रत से प्रमाद एव प्रमाद से कषाय य सब विभाव ह, इन विभावो ने ही आत्मा के असीम आनन्द और अनन्त ज्ञान को दबोच लिया है।"

जब तक आत्मा अपने स्वरूप को पा नही लेती तब तक उसे जगत की विफलता को अनुभव करना ही पडेगा, भव-भ्रमण की व्याधि मे ग्रस्त होना ही पडेगा।"

श्रमण महावीर कहते है—"वत्थुसहावो-धम्मो" वस्तु का स्वभाव ही धर्म है, अर्थात् आत्मा के नैसर्गिक स्वरूप को पा लेना ही धर्म है, धर्म आत्मा का सगीत है। चैतन्य के ऊर्ध्वगमन की वृत्ति ही धर्म की जननी है। धर्म का वर्णन वाणी से नही अपितु अनुभव से ही हो सकता है, आत्मा की विवेक और चैतन्य शक्ति ने ही दूसरे प्राकृतिक पदार्थो से भिन्न अमरता की ओर प्रेरित किया है। कर्त्तव्य और आदर्श की व्याख्याएँ दी है, दुख निवृत्ति और निर्वाण प्राप्ति ही हमारे धर्म की लक्ष्यसिद्धि है। आत्मा को कर्माणुओ की धूल ने ढक दिया है। इन कर्मों के बन्धनो को पहिचानो और तोड दो। बन्धनो को पहिचानने के लिए ज्ञान की, और बन्धनो को तोडने के लिए चारित्र की आवश्यकता

---

१. स्थानांग स्थान, १०

है। चारित्र-रूप-धर्म की व्याख्या करते हुए भगवान् ने कहा कि—"अहिंसा सयम और तप ही धर्म का स्वरूप है। वह उत्कृष्ट और मंगल है।" अहिंसा के विषय मे हमे सावधानी से काम लेना पडेगा—क्योंकि अहिंसा के दो प्रकार हैं—एक निषेधक और दूसरा विधायक।

अहिंसा का निषेधक रूप आत्मगत समस्त प्रकार के दोषों का शमन करता है और विधायक रूप मिथ्यात्व से समकित, सुव्रत, अप्रमाद, अकषाय और शुभ योग की ओर प्रेरित करता है। मानव को अशुभ से शुभ की ओर तथा शुभ से शुद्ध (प्रशस्त शुभ) की ओर ले चलना ही जैनधर्म का उद्देश्य है और अहिंसा उसकी पूर्ति का साधन है। सब जीव जीना चाहते हैं, अहिंसा उनको अमरता देती है। प्रश्न व्याकरण-सूत्र में भगवान् ने कहा है :—"अहिंसा समस्त जगत के लिए पथप्रदर्शक दीपक है, डूबते प्राणी को सहारा देने के लिए द्वीप है, त्राण है, शरण है, गति है, प्रतिष्ठा है, यह भगवती अहिंसा भयभीतो के लिए शरण है, पक्षियो के लिए आकाशगमन के समान हितकारिणी है और प्यासो को पानी के समान है। भूखो को भोजन के समान है। समुद्र मे जहाज के समान है, रोगियो के लिए औषधि समान है, यही नही; भगवती अहिंसा, इनसे भी अधिक कल्याणकारिणी है। यह पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, बीज, हरित, जलचर, स्थलचर, नभचर, त्रस, स्थावर आदि समस्त प्राणियो के लिए मगल-मय है। (प्रश्न व्याकरण प्रथम सवर द्वार) नि.सन्देह अहिंसा ही माता के समान समस्त प्राणियों का सरक्षण करने वाली, पाप और सताप का विनाश करने वाली और जीवनदायिनी है। अहिंसा अमृत है, अमृत का अक्षय कोष है और हिंसा गरल है, गरल का भण्डार है।"

व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के जीवन मे अहिंसा की मात्रा जितनी-जितनी बढ़ती जायेगी, सुख-शान्ति एव स्थायी कल्याण की मात्रा भी उतनी-उतनी ही बढती जायेगी। इसके विपरीत, ज्यों-ज्यो हिंसा विकराल रूप धारण करेगी, जगत का और व्यक्ति का जीवन अशान्त, सतप्त, और व्याकुल दुःखी होता जाएगा।

प्रश्न होता है—जीवन मे अहिंसा की प्रतिष्ठा किस प्रकार की जा सकती है? इसका उत्तर है—सयम के द्वारा। इसीलिए अहिंसा के पश्चात् धर्म का दूसरा रूप सयम बतलाया गया है।

संयम का अर्थ है इन्द्रियो का और मन का दमन करना अर्थात् उन्हे आत्म-वशीभूत करना और हिंसाप्रवृत्ति से बचाना।

एक शाखा है। अहिंसा साध्य और संयम साधन है। संयम के अनुष्ठान से ही अहिंसा की साधना सम्भव होती है। जिसने अपनी इन्द्रियो को उच्छृंखल छोड़ दिया है मन को बेलगाम कर रखा है और जो प्राणियो के प्रति सहानुभूतिशील नही है, वह असंयमी अहिंसा का पालन नही कर सकता।

संयम दो प्रकार का है—इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम। इन्द्रियो और मन को अपने-अपने विषयो मे प्रवृत्ति करने से रोक कर आत्मोन्मुख करना इन्द्रिय-संयम है और षट्काय के जीवों की हिंसा का त्याग करना प्राणी-सयम है।

शास्त्रो में सत्तरह प्रकार का जो संयम प्रतिपादित किया गया है, उसका सार इसी मे आ जाता है।

संयम के पश्चात धर्म का तृतीय रूप प्रकट किया गया है। इसका कारण यह है कि संयम की साधना के लिए तपस्या अनिवार्य है। तपस्या का अर्थ इच्छा-निरोध है। मनुष्य की इच्छाये अपार, असीम, और अनन्त है। उनकी लालसा पूरी करने के लिए आप दौडेगे तो दौड़ते ही चलेगे। किन्तु वह तृष्णा पूरी नही हो सकती और आपकी दौड़धूप समाप्त हो नही सकती। इच्छापूर्ति के लिए आपको असयम के पाप-पथ पर चलना अनिवार्य होगा और वहाँ हिंसा-दानवी आपको अपना लक्ष्य बना लेगी।

कांटो से बचने के लिए आप सम्पूर्ण भूमडल को चमड़े से मढ नही सकते। बुद्धिमान् मनुष्य अपने पैरो में ही जूता पहन लेता है। इसी प्रकार इच्छाओ की पूर्ति करना असंभव है, अतएव इच्छाओ पर नियत्रण कर लेना ही आपके लिए एकमात्र सुखप्रद मार्ग है। यही तप का मार्ग है। तपोनुष्ठान से मनुष्य संयमशील बनता है और सयमशीलता से अहिसा की प्रतिष्ठा होती है।

जिस व्यक्ति के अन्तरतर मे अहिसा, सयम और तप की त्रिबेणी निरन्तर बहती रहती है, उसकी आत्मा इतनी निर्मल, निष्कलुष और निर्विकार हो जाती है कि देवता भी उसके चरणो में प्रणाम करके अपने को धन्य मानते है।

एक जैनाचार्य ने जैनधर्म का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए बतलाया है :—
"जहाँ अनेकान्त दृष्टि से तत्त्व की मीमांसा की गई है, अर्थात् प्रत्येक वस्तु के अनेक पहलुओ का विचार करके सम्पूर्ण सत्य की अन्वेषणा की गई है, खण्डित सत्यांशों को अखंड स्वरूप प्रदान किया गया है, जहाँ किसी प्रकार के पक्षपात को अवकाश नही है, अर्थात् शुद्ध सत्य का ही अनुसरण किया जाता है और जहाँ किसी भी प्राणी को पीडा पहुचाना पाप माना जाता है, वही जैनधर्म है।

आचार सम्बन्धी अहिसा, विचार सम्बन्धी अहिसा अर्थात् सत्य एवं स्याद्वाद का सम्मिलित स्वरूप ही जैनधर्म है।"

जैन-धर्म विजेताओ का धर्म है क्योकि वह रागद्वेष के जीतने वाले जिन भगवान् द्वारा प्रतिपादित किया गया है। कर्म-मलरूप अरियो का नाश करने के कारण अरिहन्त देवो द्वारा प्रतिपादित होने से इसे निर्ग्रन्थ धर्म भी कहा गया है। श्रीमद्भागवत् मे परमहस धर्म और कैवल्य-श्रुति मे इसे यति-धर्म कहा गया है। इस अवसर्पणिक काल मे भगवान् ऋषभदेव इसके आदि प्रवर्तक थे और भगवान् महावीर २४ वे तीर्थंकर। युग-युग से जब जीवन अपने आत्मस्वरूप को भूल जाता है तो अरिहन्त वा आर्हद्वाणी हमे अहिसा, सयम, तप और समन्वय का उद्बोधन देते आए हैं। वह दिवस धन्य होगा जिस दिन हमे ज्ञान, दर्शन, चारित्र के द्वारा हम अपने ही अन्तर मे मूर्छित परमात्मा को जागृत कर सकेंगे और असीम आनन्द एव अनन्त ज्ञान को प्राप्त कर सकेंगे।

सच्चा यज्ञ

तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजम जोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥

उत्तराध्ययन० १२, गा० ४४॥

हे गौतम ! तप अग्नि है, जीव ज्योति स्थान है। मन, वचन, काया के योग कुड़छी है, शरीर कारिपाग है, कर्म ईधन है, सयम भोग शान्ति पाठ है। ऐसे ही होम से मैं हवन करता हूं। ऋषियो ने ऐसे ही होम को प्रशस्ति कहा है।

Live and Let Live

जीवो और जीने दो

से बेमि, जेय अईया, जेय पडुप्पन्ना, जेय आगमिस्सा–अरिहंता भगवन्तो ते सव्वे, एव माइक्खन्ति एव भासंति एव पण्णविंति, एवं परूवेंति–सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघितव्वा, ण परितावेयव्वा ण किलामेयव्वा, णउद्दवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे णियए–सासए–समिच्च लोयं खेयन्ने हिं पवेइए।

—आचारांग, अ० १, उ० १।

श्रमण महावीर कहते हैं :—"मैं कहता हूँ कि जो अतीत, वर्तमान और भविष्यकाल मे अरिहत भगवान् थे, हैं, और होंगे, वे सब इसी प्रकार का उपदेश, भाषण, प्रवचन और प्रतिपादन करते थे, कर रहे हैं और करेंगे कि :—

सभी जीवो को अपने समान समझ कर किसी भी प्राणी भूत-जीव तथा सत्व को मत मारो, गुलाम मत बनाओ, पीड़ा मत पहुँचाओ और किसी को भी संताप मत दो और न किसी को उद्विग्न करो।"

यही धर्म ध्रुव है, शाश्वत है और नित्य है।

अतीत की झलक

अतीत की झलक

जैन धर्म न तो किसी धर्मप्रवर्तक पुरुष के नाम से प्रचलित हुआ है और न किसी पुस्तक के नाम से। वह तो जिनो द्वारा उपदिष्ट धर्म है। इस भूतल पर सदा काल से जिन होते आ रहे है, अतएव जैनधर्म कब प्रचलित हुआ, यह बतलाना सम्भव नही। पाश्चात्य विद्वान् पादरी राइस डेविड के शब्दो मे यही कहा जा सकता है कि जब से यह पृथ्वी है, तभी से जैनधर्म विद्यमान् है।

फिर भी समय-समय पर होने वाले तीर्थकरो—जिनो द्वारा उसका उपदेश दिया जाता है और वह नूतन रूप में प्रकाश मे आता है, इस दृष्टि से उसे आदि भी कहा जा सकता है।

अनन्त जीव धर्म का अनुसरण करके अपना कल्याण कर चुके है, अनन्त जीव अपना उद्धार करेंगे, और अनेक जीव कर रहे है। धर्म का मगल द्वार सदैव खुला रहता है। फिर भी क्रूर काल के प्रभाव से धर्म का पथ कभी-कभी कही-कही अवरुद्ध हो जाता है। उसे जिन भगवान् पुनः परिष्कृत करते हैं। यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

जैनधर्म मे काल परम्परा वैदिकधर्म के चार युगो (सत्य, द्वापर, त्रेता तथा कलियुग) की भाँति मूलतः दो भागो मे विभाजित की गई है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। उत्सर्पिणीकाल, विकासकाल है। इस काल मे जीवो के बल, वीर्य,

पुरुषार्थ, शरीर उम्र आदि की तथा भौतिक पदार्थों मे रस आदि की वृद्धि निरन्तर होती रहती है। अवसर्पिणीकाल ह्रासकाल है। इन अवनतिशीलकाल मे उक्त बातो मे निरन्तर हानि होती चली जाती है। तात्पर्य यह है कि दु.ख से सुख की ओर ले जाने वाला काल उत्सर्पिणीकाल और सुख से दु.ख (वृद्धि मे ह्रास) की ओर ले जाने वाला काल अवसर्पिणीकाल कहलाता है।

यह दोनो काल मिलकर कालचक्र कहलाते है। यह सृष्टि रूपी शकट के दो चक्र है। जैसे गाडी के चक्र मे आरे बने रहते है और वे उस चक्र को विभक्त करते है, उसी प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल मे छ-छ. आरे होते है। इन आरो का कालमान सख्यातीत वर्षो का होता है।

छ आरो के गुणनिष्पन्न नाम रखे गए है :—

(१) सुखमा-सुखमा-अत्यन्त सुखरूप।
(२) सुखमा-सुखरूप।
(३) सुखमा दुखमा-सुख-दुख रूप।
(४) दुखमा सुखमा-दुख-सुख रूप।
(५) दुखमा-दु ख रूप और
(६) दुखमा-दुखमा, अत्यन्त दुख रूप।

यह अवसर्पिणीकाल के आरो का क्रम है। उत्सर्पिणीकाल के छ' आरो का क्रम इससे विपरीत है। वह दुखमा सुखमा से प्रारम्भ होकर सुखमा सुखमा पर समाप्त होता है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल मे चौबीस जिन तीर्थंकर होते है। वह प्रचलित या लुप्तधर्म को पुन प्रचलित करते है।

इस समय अवसर्पिणीकाल चल रहा है और हम लोग उसके पाँचवे आरे मे गुजर रहे है।

सुख दु ख नाम के आरे मे धर्मतीर्थंकरो का जन्म होता है। इस अवसर्पिणी-काल के तीसरे आरे मे आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव का अवतरण हुआ। इसी आरे के तीस वर्ष और साढे आठ मास शेष रहते उनका निर्वाण हो गया।

श्रीमद्भागवत और मनुस्मृति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव का जन्म मनु की पाँचवी पीढी मे हुआ था। गणना करने पर वह काल प्रथम सतयुग का अन्तिम चरण निकलता है। उस सतयुग के बाद आज तक २८ सतयुग बीत चुके है। ब्रह्मा जी की आयु का भी बहुत-सा भाग समाप्त हो चुका है।

इस उल्लेख से भगवान् ऋषभदेव के जन्म की प्राचीनता का समर्थन होता है।

भ० ऋषभदेव के पश्चात् चौथे आरे में शेष २३ तीर्थंकर हुए हैं, जिनमें भगवान महावीर अन्तिम थे।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का कालिक अन्तर जैनशास्त्रों में कोटि-कोटि सागर बतलाया गया है। सागर (प्रकाशवर्ष की तरह) संख्यातीत वर्षों के समूह की संज्ञा है।

इस अवसर्पिणी युग में जैनधर्म के आदि प्रणेता समाजस्रष्टा और नीति-निर्माता भगवान् ऋषभदेव हुए हैं।

भगवान् ऋषभदेव

भूतकाल की बात है। भूतकाल भी इतना पुराना कि वहाँ इतिहास की पहुंच नहीं। उस समय इस भरतक्षेत्र में न धर्म था, न परिवार-प्रथा थी, न समाजव्यवस्था थी, न राज्यशासन था, न नीति और न कला का उद्भव हुआ था। उस समय की प्रजा वृक्षों के फलों पर अवलम्बित थी, जिन्हें कल्पवृक्ष की संज्ञा प्रदान की गई है। जैनशास्त्रों में वह युगलकाल के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि मनुष्य का मनुष्य के साथ अगर कोई सम्पर्क था तो वह नर और नारी का ही था।

भगवान् ऋषभदेव के पिता महाराज नाभि थे जो इस काल के अन्तिम कुलकर थे। उनकी माता का नाम मरुदेवी था। युगलिक सभ्यता में ही उनका बाल्यकाल व्यतीत हुआ।

कालचक्र तेजी के साथ घूम रहा था। प्रकृति में आमूल परिवर्तन हो रहा था। मानवप्रकृति में भोगलिप्सा का विकास हो रहा था। और भौतिक प्रकृति की फलदायिनी शक्ति का ह्रास हो रहा था। इस दोहरे परिवर्तन के कारण पहली बार अशान्ति का उद्भव हुआ। जो वृक्ष उस समय की प्रजा के जीवन-निर्वाह के साधन थे, वे पर्याप्त फल नहीं देते थे और कृषिकर्म आदि से लोग अनभिज्ञ थे। इस परिस्थिति में एक भारी प्राण संकट आ उपस्थित हुआ। उस संकट का सामना करने के लिए युगानुकूल जो नूतन व्यवस्था की गई, उसने भोगभूमि को कर्मभूमि में परिणत कर दिया।

गुण-कर्म के आधार पर भ० ऋषभदेव ने मानवव्यवस्था की और कर्म-

पुरुषार्थ पर खडा करके मनुष्य को स्वावलम्बी बना दिया। प्रजा के हित के लिए लेख, गणित, नृत्य, गीत, सौ प्रकार की शिल्प-कला आदि, बहत्तर कलाएँ पुरुषों की और चौंसठ कलाएँ स्त्रियो की निर्माण की। (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ऋषभ चरितः) सर्वप्रथम अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपि की शिक्षा दी और इस कारण वह लिपि आजतक ब्राह्मी लिपि के नाम से विख्यात है।

कृषि, गो-पालन, भाण्डनिर्माण आदि समस्त कर्म, उत्पादन तथा वितरण व्यवस्था सब भगवान् ऋषभदेव की ही देन है।

ऋषभदेव जी की सुनन्दा और सुमगला नामक दो पत्नियाँ थी। दोनों से दो कन्याओ और सौ पुत्रो का जन्म हुआ। जिनमे दो भरत और बाहुबली विशेष विख्यात हुए।

लोकजीवन की सुव्यवस्था करने के पश्चात् प्रजा का भार अपने पुत्रो को सौंप कर भगवान ऋषभदेव परिग्रह से विमुक्त हो दीक्षित हो गए।

एक हजार वर्ष तक निरन्तर कठोर तपश्चरण करने के पश्चात् वे जिन वीत-राग एवं पूर्ण ज्ञानी हो गए। तत्पश्चात् उन्होने समाज-व्यवस्था की तरह धर्म-व्यवस्था करके मानव-जीवन को एक प्रशस्त और उच्चतर ध्येय प्रदान किया। गृहस्थो के लिए अणुव्रतो का तथा साधुओ के लिए महाव्रतो का उपदेश दिया। भगवान् के धर्मोपदेश की वह विमल स्रोतस्विनी अति दीर्घ मार्ग को पार करती हुई आजतक प्रवाहित हो रही है।

यह उल्लेखनीय है कि भगवान् ऋषभदेव को वैदिकधर्म ग्रथो मे भी परमोच्च पद प्राप्त हुआ है और ऋग्वेद मे अनेक स्थलो पर उनका नाम्मोल्लेख हुआ है और उनकी स्तुति की गई है। एक जगह लिखा है—"हे ऋषभनाथ सम्राट्! ससार में जगतरक्षक व्रतो का प्रचार करो। तुम्हीं इस अखण्ड पृथ्वीमण्डल के सार हो, त्वचा रूप हो, पृथ्वीतल के भूषण हो, और तुमने ही अपने दिव्यज्ञान द्वारा आकाश को नापा है।" (ऋग्वेद सू० अ० ३)

कहने की आवश्यकता नही है कि ऋग्वेद के इस मन्त्र मे भगवान् को व्रत-धर्म का प्रचारक और अनन्त ज्ञानी स्वीकार किया गया है। अन्यान्य स्थलो पर भी उनकी अत्यन्त भक्तिमय स्तुति की गई है। उनके व्रतधर्म का भी वहाँ उल्लेख मिलता है।

श्रीमद्भागवत मे कहा है—"हे परीक्षित। सम्पूर्ण लोक, देव, ब्राह्मण और गौ के परम गुरु भगवान् ऋषभदेव का यह विशुद्ध चारित्र मैंने तुम्हे सुनाया है। यह चारित्र मनुष्यो के समस्त पापो को हरण करने वाला है।"

भागवतकार ने भगवान् ऋषभदेव का विस्तृत वर्णन किया है और उनके उपदेशों का संग्रह भी किया है। उन्होंने ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट धर्म को परमहंस-धर्म और भगवान् को अर्हन्त बतलाया है।

वे कहते हैं—"नाभि राजा ने संसार मे धर्म-वृद्धि के लिए मोक्ष-प्राप्ति और अपवर्ग को पथप्रदर्शन के लिए अपत्यकामना की, और अरिहन्त भगवान् को अवतरित करने के लिए यज्ञ किया।"

ब्राह्मणो और ऋषियो ने राजा की कामना जानकर उत्तर दिया—"महाराज! यदि आप अर्हन् चाहते हो तो अवश्य आपकी कामना पूर्ण होगी।" फिर ब्राह्मणो ने परमात्मा से प्रार्थना की, परमात्मा ने ब्राह्मणों की प्रार्थना स्वीकार की और अर्हन् भगवान् को भेजा।

"अर्हन् नाम-रूप प्रकृति के गुणो से निर्लेप, अनासक्त तथा मोह से असंस्पृष्ट होते हैं और मोक्ष तथा अपवर्ग का मार्ग बतलाते हैं।"

"ऋषभदेव आत्मस्वभावी थे। अनर्थपरम्परा (हिंसा आदि पाप) के पूर्ण त्यागी थे। वे केवल अपने ही आनन्द मे लीन रहते तथा अपने ही स्वरूप मे विचरण करते।"

"ऋषभदेव साक्षात् ईश्वर थे। वे सर्व समता रखते, सर्व प्राणियो से मित्र-भाव रखते और सर्व प्रकार दया करते थे।"

श्रीमद्भागवत ने उच्च स्वर से उद्घोषित किया है कि उस ऋषभदेव भगवान् का ज्येष्ठ और श्रेष्ठी गुणी भरत नामक पुत्र था। वह भारत का आदि सम्राट् था और उसी के नाम से इस राष्ट्र का नाम "भारतवर्ष" पड़ा है।

भरत को सम्पूर्ण राज्य मिल गया, किन्तु ९८ पुत्रो को कुछ भी नही मिला। वे उद्विग्न होकर परमयोगी ऋषभदेव के पास गए और उनके सामने राज्यचिन्ता का शोक प्रकट किया। भगवान् ऋषभदेव ने उन ९८ पुत्रो की राज्य के प्रति आसक्ति देखकर बहुत ही गम्भीर, मर्मस्पर्शी और कल्याणकारी उपदेश दिया।

उसका मूल के अनुसार सार यह है—

१. हे पुत्रो! मानवीय संतानो! संसार में शरीर ही कष्टों का घर है। यह भोगने योग्य नही है। इसे माध्यम बनाकर दिव्य तप करो जिससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। तप से अन्त करण-शुद्धि और अन्त करण-शुद्धि से ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है।

२. हे पुत्रो ! सत्पुरुषो के सदाचार से प्रीति करना ही मोक्ष का ध्रुव द्वार है। जो लोक मे और संसार व्यवहार मे प्रयोजन मात्र के लिए आसक्ति-कर्त्तव्यबुद्धि रखता है, वही समदर्शी प्रशान्त साधु है।

३. जो इन्द्रियो और प्राणो के सुख के लिए तथा वासना-तृप्ति के लिए परिश्रम करता है, उसे हम अच्छा नही मानते। क्योंकि शरीर की ममता भी आत्मा के लिए क्लेशदायक है।

४. साधु जब तक आत्मस्वरूप को नही जानता, तब तक वह कुछ नहीं जानता। वह कोरा अज्ञानी है। जब तक वह कर्मकाण्ड (यज्ञ आदि) मे फँसा रहता है, तब तक आत्मा और शरीर का संयोग छूटता नही है। और मन के द्वारा कर्मों का बन्ध भी रुकता नही है।

५ जो सद्ज्ञान प्राप्त करके भी सदाचार का पालन नही करते वे विद्वान् प्रमादी बन जाते हैं। मनुष्य अज्ञान भाव से ही मैथुन-भाव में प्रवेश करता है और अनेक संतापो को प्राप्त करता है।

६ नर का नारी के प्रति कामभाव ही हृदय की ग्रंथि है। इसी के कारण जीव का घर, खेत, पुत्र-कुटुम्ब और धन से आकर्षण होता है। मोहासक्ति बढ़ती है।

७. जब हृदय-ग्रंथि को बनाए रखने वाले मन का बंधन शिथिल हो जाता है, तब जीव इस ससार से छूटने लगता है और मुक्ति प्राप्त कर परम लोक मे पहुंच जाता है।

८. सार-असार का भेद जानने वाला जीव वीतराग पुरुष की भक्ति करता है। भक्ति मे अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है। तब जीव तृष्णा, सुख-दुःख का त्याग कर तत्व को जानने की इच्छा करता है तथा तप के द्वारा सब प्रकार की चेष्टाओ की निवृत्ति करता है। तभी आत्मा कर्मो का नाश करके मुक्ति प्राप्त करता है।

९. विषयो की अभिलाषा ही अन्धकूप के समान नरक मे जीव को पटकने वाली है।

१० हे पुत्रो ! जो हेयोपादेय की विवेक दृष्टि से शून्य है, और कामनाओ से परिपूर्ण है, वह संसारी कल्याण के मूलपथ को नही पहचान सकता।

११ जो पुरुष बुद्धि को मोह मे उलझाकर और कुबुद्धि बनकर उन्मार्ग पर चलता है, दयालु विद्वान् उसे कभी भी उन्मार्ग पर नही चलने देते।

१२. हे पुत्रो ! जो स्थावर और जगम जीवो की आत्मा को भी मेरे समान ही समझता है और कर्मावरण के भेद को पहचानता है, वही धर्म प्राप्त करता है। धर्म का मूल तत्व समदर्शन है।

१३ जो साधक यमो (महाव्रतो) को ग्रहण करता है और अध्यात्म-योग विविक्त सेवा द्वारा आत्मस्वरूप स्थिति का ज्ञान करता है, श्रद्धा और ब्रह्मचर्य द्वारा उसका साक्षात्कार करता है, वह अप्रमादी साधक मुक्ति के निकट पहुँचता है।

१४ जो सर्वत्र विचक्षणतापूर्वक ज्ञान, विज्ञान, योग, धैर्य, उद्यम तथा सत्व से मुक्त होकर विचरण करता है, वही कुशल है और वही मेरा अनुयायी है।

१५. कर्माशय को विध्वंस करने के लिए हृदय-ग्रंथि को नष्ट करो, यही बंध का कारण है। अविद्या से ही बध होता है। प्रमाद कर्मबध मे सहायक होता है।

१६. इस आत्मा की अपने कल्याण की दृष्टि नष्ट हो गई है और वह स्वार्थ के पीछे पागल हो गया है। पुत्रो ! निष्काम और निस्वार्थ होकर सुखलेश की उपेक्षा करके कर्ममूढता और अनन्त दु खग्रस्तता को नष्ट करो।

१७ नेत्रो के अभाव मे जैसे अन्धा कुपथ पर जा चढता है, इसी प्रकार जीव कर्मान्ध होकर कुमार्ग का अनुसरण कर रहा है। कुबुद्धि होने के कारण ही वह सच्चे धर्म पर श्रद्धा नही करता।

१८. हे पुत्रो ! मेरा शरीर मेरा नही है, यह तो आत्मा के विभाव का दुष्फल है। मेरा अपना तो आत्मस्वभाव ही है। वही मेरा सच्चा धर्म है। मैंने उस विभाव रूप अधर्म को दूर कर दिया। अत मुझे लोग श्रेष्ठ आर्य कहते हैं।

१९ अग्निहोत्र मे वह सुख नही है जो आत्मयज्ञ में है।

२०. मैं उसे ही यज्ञ और धर्म मानता हूँ जो सतोगुण से युक्त, शम, दम, सत्य, अनुग्रह, तप, तितिक्षा और अनुभव से सम्पन्न होता है। इसी मार्ग से अनन्त आत्मायें परमात्मपद प्राप्त कर गई है। यही श्रेष्ठ मार्ग है।

२१. स्थावर और जगम जीवो पर सदा अभय दृष्टि रखो, यही सच्चा श्रेष्ठ मार्ग है और मोहनाश का कारण है। मुक्तिप्राप्ति के लिए प्रयत्न करो, यही सर्वोच्च ध्येय है। इसी सिद्धि से अनन्त सुख प्राप्त होता है।

भगवान् का यह उपदेश सुनकर उनके पुत्रो ने ससार त्याग दिया। कर्मकाण्ड त्याग कर उन्होने परमहंस धर्म (आत्मधर्म) की पद्धति का अनुसरण किया।

भागवत् मे भगवान् ऋषभदेव की तपस्या का बहुत ही रोमाचकारी वर्णन किया गया है। उपसर्गों, परीषहो और संकटो को पार करते हुए तथा वनवास के समस्त दु:खो को सहन करते हुए भगवान् अवधूत वेश मे विचरने लगे। उनका मन अविखण्डित और प्रशान्त था। वे मानापमान की चिन्ता न करके घूमते रहते थे।

उनके शारीरिक अतिशय का वर्णन करते हुए लिखा है कि उनकी विष्ठा मे से भी सुगध आती थी, सारा वातावरण सुगधमय बन जाता था।

एक दिन उनके कर्माशय का अन्त आ गया, समस्त अर्थ परिपूर्ण होने से सिद्ध बन गए, उन्हे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

उनकी आत्मा मे परमानन्द था, समस्त अर्थो का ज्ञान था, वे निष्कम्प आलोकस्तम्भ थे।

भगवान् ऋषभदेव के भागवतोक्त जीवन की जैनागमो और जैन-पुराणो से पूरी तरह तुलना की जा सकती है। वास्तव मे भागवतकार ने श्री ऋषभदेव के जीवन और धर्म को विशुद्ध रूप मे उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। कही भी उन्हें यज्ञ-समर्थक या वेदानुयायी प्रदर्शित नही किया गया है।

वैदिक-धर्म के चौवीस अवतारो मे भ० ऋषभदेव आठवे अवतार स्वीकार किये गए है, मगर उनका जीवन किसी भी अन्य वैदिक अवतार से मेल नही खाता है। वह अनूठा है।

उपनिषदों में जैनधर्म

भगवान् ऋषभदेव के समय मे ही भारत मे दो मुख्य विचार धाराएँ प्रचलित हो गयी थी, एक धारा वह थी जिसमे कर्म (यज्ञ) की प्रधानता थी और दूसरी वह जिसमे व्रत, नियम, सयम एव तपश्चरण की मुख्यता थी। ये विचारधाराएँ आज ब्राह्मण विचारधारा और श्रमण विचारधारा के नाम से प्रचलित है। भगवान् ऋषभदेव श्रमण विचारधारा अथवा व्रात्यधर्म (व्रतधर्म) के आद्य प्रवर्तक थे। अतएव उपनिषदो मे जहाँ कही श्रमण विचारधारा का प्रतिपादन हुआ है, वह भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रवर्तित जैन धर्म ही समझना चाहिए।

जाबाल उपनिषद् मे महायोगी दत्तात्रेय ने जिन अहिंसादि दश यमो का प्रतिपादन किया है, वही ऋषभदेव द्वारा उपदिष्ट धर्म के मूल व्रत है। ऋषभदेव द्वारा प्ररूपित धर्म से दत्तात्रेय के प्रभावित होने का कारण यह है कि व्रात्य धर्म वेदो

से भी अधिक प्राचीन है। वेदो में उसका वर्णन आता है। दत्तात्रेय नवीन है क्योंकि उपनिषद् काल मे उनका प्रादुर्भाव हुआ है।

दत्तात्रेय याज्ञिक क्रिया काण्ड और बाह्य शौच का खण्डन करते हुए कहते है —"हे सुव्रत, जो मनुष्य ज्ञान-शौच को त्याग कर बाह्य जल आदि से शौच मानने की भ्रमणा मे पडा है, वह सुवर्ण को त्याग कर मिट्टी के ढेले का सग्रह करता है।" क्या कोई ब्राह्मणधर्मी ऋषि इस प्रकार उद्गार प्रकट कर सकता है ?

दूसरी जगह वही कहते है —"हे मुने ! अहिंसा आदि साधनो द्वारा अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करके आत्मा अविनाशी ब्रह्मपद प्राप्त करता है।" उन्होंने दश यमो का प्रतिपादन किया और उनका समर्थन किया है। तप के विषय मे वह कहते है —"हे मुने ! कृच्छ्रचान्द्रायण आदि को वैदिक लोग तप मानते है, किन्तु हम उसे तप स्वीकार करते है जिसके द्वारा आत्मा ससार भ्रमण से छूटकर, बन्धन विमुक्त होकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है।"

दत्तात्रेय जी ने अपने को वैदिको से पृथक् प्रकट किया है। अतएव असंदिग्ध रूप मे कहा जा सकता है कि वे श्रमणशाखा के आचार्य थे, किन्तु वैदिक लोग भी उनका सम्मान करते थे।

यद्यपि श्रमण परम्परा मे समय-समय पर अनेक विचारक सन्त सम्मिलित होते रहे है और महावीर काल मे तो महात्मा बुद्ध जैसे प्रथमकोटि के सन्त भी उसमें सम्मिलित हुए, किन्तु वेदो और उपनिषदो से पूर्व जैनधर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव की परम्परा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रभावशाली धर्म या धर्मप्रवर्तक का परिचय नही मिलता। इस कारण दत्तात्रेय के विचार जैनधर्म से ही प्रभावित स्वीकार किए जा सकते है।

दत्तात्रेय यद्यपि ब्राह्मणो और श्रमणो के मध्य की एक महत्त्वपूर्ण कडी के रूप मे रहे, फिर भी यह स्पष्ट है कि ब्राह्मणो का क्रियाकाण्ड उन्हे अभीष्ट नही था।

पुराणों मे जैनधर्म

उपनिषदो के अनन्तर प्राचीनता के नाते पद्म-पुराण की गणना की जा सकती है। पद्मपुराण मे जैनधर्म का विस्तृत वर्णन मिलता है। वैदिक साहित्य की यह एक विशेषता रही है कि उसमे जैनधर्म की स्तुति तो व्रात्यधर्म, परम-

हसधर्म, या यतिधर्म आदि के नाम से की गई है और जहाँ-जहाँ खण्डन किया गया, वहाँ जैनधर्म या पाखडधर्म नाम का उल्लेख हुआ है।

पद्मपुराण मे जैनधर्म का खडन किया गया है, फिर भी उस खंडन से जैनधर्म के आन्तरिक स्वरूप का बोध हो सकता है। पद्मपुराण का भूमिखड तथा राजा वेणु का वर्णन ध्यान देने योग्य है।

ऋषियो ने पूछा —"सूत जी! राजा वेणु की उत्पत्ति जब महात्मा से हुई तो उसने वैदिक धर्म का परित्याग क्यो कर दिया?"

सूत जी बोले—"मै तुम्हे सारी कहानी सुनाता हूँ। जब वेणु शासन करता था, उस समय उसके दरबार मे नंग-धडग, विशालकाय, श्वेतमस्तक वाला अतिशय कान्तिमान् साधु ओघा, कमण्डल लिए जा पहुचा।" (पुराणो से जैन साधु के वेष के सम्बन्ध मे भी पर्याप्त परिचय मिलता है। पद्मपुराण से जैन साधु के दिगम्बरत्व का पता चलता है। शिवपुराण के "तुण्डे वस्त्रस्य धारका:" अर्थात्—"मुख पर वस्त्र धारण करने वाले", इस उल्लेख से स्थानकवासी साधु के वेष का और महाभारत के उत्तुंक के स्पष्टीकरण से श्वेताम्बर साधु के वेष का समर्थन होता है। जान पड़ता है, पुराणकाल मे जैन साधुओ के तीनों वेष निश्चित हो चुके थे।)

वेणु ने पूछा—"आप कौन है?"

साधु ने उत्तर दिया—"मै अनन्त शक्तिमय, ज्ञान-सत्यमय आत्मा हूँ। सत्य और धर्म मेरा कलेवर है। योगी मेरे ही स्वरूप का ध्यान करते है। मै जिन स्वरूप हूँ।"

राजा :—"आपका देव, गुरु और धर्म क्या है?"

साधु :—"अरिहन्त हमारे देव हैं, निर्ग्रन्थ हमारे गुरु है और दया ही हमारा धर्म है। मेरे धर्म मे यजन, याजन, वेदाध्ययन जैसा कुछ नही है। पितरो के तर्पण, बलिवैश्वदेव आदि कर्मो का त्याग है। हमारे धर्म मे अर्हन् का ध्यान ही उत्तम माना गया है।"

मोह से मुग्ध मनुष्य श्राद्ध आदि करते है। मरने के बाद मृतात्मा कुछ खाता नही। ब्राह्मणों का खाया मृतात्मा को मिलता नही है।

दया का दान करना ही सर्वश्रेष्ठ है। राजन्! इन मिथ्या कर्मो को त्याग कर जीवो की रक्षा कर, दयापरायण होकर प्रतिदिन जीवो की रक्षा कर। ऐसी

दया करने वाला मनुष्य चाहे चाण्डाल हो या शूद्र, वही हमारे धर्म मे ब्राह्मण कहा गया है।

जिन भगवान् का बताया हुआ व्रत ही हमारे कल्याण का सच्चा मार्ग है। सब पर दया करो, शातचित्त होकर दया करो।

राजा ने पूछा —"हे ऋषे ! ये ब्राह्मण और आचार्य गगा आदि नदियो को पुण्यतीर्थ बतलाते है। यह कहा तक सत्य है ?"

साधु —"नरेश, आकाश से बादल एक ही समय जो पानी बरसाते है, वही पृथ्वी, पर्वत आदि सभी स्थानो मे गिरता है। वही बह कर नदियो मे इकट्ठा हो जाता है। नदिया तो जल बहाने वाली है। उनमे तीर्थ कैसा ? सरोवर और समुद्र सभी जल के आश्रय है। पृथ्वी को धारण करने वाले पर्वत भी केवल पाषाणराशि है। इनमें तीर्थ नाम की वस्तु नही है।"

"यदि समुद्र और नदियों में स्नान करने से सिद्धि मिलती तो मछलियो को तो सबसे पहले सिद्ध हो जाना चाहिए।"

"हे राजेन्द्र ! एक मात्र जिन ही सर्वोत्तम धर्म है और तीर्थ है। संसार में जिन ही सर्वश्रेष्ठ है। उनका ध्यान करो।"

राजा वेणु के मन मे अर्हत्–धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न हुई और उसने परमहंस धर्म (जैनधर्म) स्वीकार कर लिया। इस घटना से ऋषियो को बड़ी चिन्ता हुई।

यह वृत्तान्त खूब विस्तृत है। इसके उल्लेख करने का आशय यह है कि पुराणकाल में जैनधर्म का प्रभाव इतना बढा हुआ था कि राजा वेणु जैसे भारत-सम्राट् भी उनके अनुयायी बन गये थे।

वेणु की यह कहानी स्पष्ट घोषणा कर रही है कि बाह्याचार जैनधर्म का स्वरूप नही, उसका विश्वास जीवनशोधन पर है।

अब जरा स्कन्दपुराण पर दृष्टि डालिए। वहा आवन्त्य रेखा खण्ड मे पाखण्डीजनो के त्याग के प्रकरण मे व्रतियो की निन्दा की गई है। वैदिक व्रत और नर्मदा के स्नान से पापविमुक्ति एव मोक्षप्राप्ति बतलाई गई है।

दूसरे पुराणो तथा बृहदारण्यक उपनिषद् के आत्मविषयक गार्ग्य और अजातशत्रु के प्रश्नोत्तर भी जैनधर्म की ओर संकेत कर रहे है।

साधना के क्षेत्र मे आर्हत् धर्म की साधना सर्वाधिक कठोरतम रही है।

जैनधर्म भारत की उस साधना का प्रतिनिधित्व करता आया है जो सार्वभौम है, जो समाज और व्यक्ति में अमृतत्व की प्राप्ति का मूल स्रोत रही हे। जैन साधना वस्तुशोधन की प्रक्रिया पर नही, जीवन-शोधन पर विश्वास करती है।

अथर्ववेद मे व्रात्यो – व्रतनिष्ठ मुनियो की साधना के जो उल्लेख पाये जाते है और भागवत मे भगवान् ऋषभदेव की कठोरतम साधना का जो चित्र उपस्थित किया गया है, उससे भलीभाति प्रकट हो जाता है कि जैनधर्म की साधना शरीर की ममता पर कुठाराघात करके अहकार और ममकार का विनाश करती हुई अग्रसर होती है। वह स्वर्ग के स्वप्न नही देख सकती, मुक्ति का पथ प्रशस्त करती है।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण खण्ड २ अ० १३१ मे "हसगीता" के नाम से यतिधर्म निरूपण का अलग ही अध्याय रखा गया हे, जिसमें जैन साधु के नियमो को ही यति धर्म का आचार बतलाया गया है।

एक बार भोजन, मौनवृत्ति, इन्द्रियनिरोध, राग-द्वेष रहितता आदि जैन साधु के गुण ही विष्णुपुराण मे यतियो के गुण बतलाये गये है। जैनागम मे प्रसिद्ध दश धर्मो को ही यति धर्म कहा गया है।

वि० पु० श्लोक ५९।

योगवासिष्ठ मे रामचन्द्र जी अपनी कामना इस प्रकार अभिव्यक्त करते है।

"नाहं रामो न मे वाच्छा, भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥"

"मै राम नही हूँ, मुझे किसी वस्तु की चाह नही है, मेरी अभिलाषा तो यह है कि मै जिनेश्वर देव की तरह अपनी आतमा मे शान्ति लाभ कर सकूँ।"

शिवपुराण मे भगवान् ऋषभदेव को विश्व का कल्याणकर्त्ता बताया गया है।

इन सब उल्लेखो का अभिप्राय यह है कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित धर्म केवल श्रमण परम्परा का मूलाधार है, परन्तु ब्राह्मण परम्परा को भी उसकी महत्वपूर्ण देन है। भगवान् ऋषभदेव इस युग के प्रथम धर्म प्रवर्तक हे। वेदो, वैदिक पुराणो और जैन साहित्य मे उनका उपदेश विकल या अविकल रूप से उपलब्ध होता है। वह भारत की ही नही, विश्व की अनुपम विभूति थे। स्वनामधन्य भगवान ऋषभदेव विश्व के प्रथम महर्षि थे।

जैनधर्म के तीर्थंकर

जिन चौबीस तीर्थंकरों का सामान्य उल्लेख पहले दिया गया है, उनकी नामावली इस प्रकार है —

संख्या	तीर्थंकर नाम	जन्मस्थान
१.	श्री ऋषभदेव जी	अयोध्या
२.	श्री अजीतनाथ जी	अयोध्या
३.	श्री सभवनाथ जी	श्रावस्ती
४	श्री अभिन्दननाथ जी	अयोध्या
५	श्री सुमतिनाथ जी	अयोध्या
६.	श्री प्रद्मप्रभु जी	कौशाम्बी
७	श्री सुपार्श्वनाथ जी	काशी
८.	श्री चन्द्रप्रभु जी	चन्द्रपुरी
९.	श्री पुष्पदत (सुविधिनाथ) जी	काकान्दी
१०.	श्री शीतलनाथ जी	भद्दलपुर
११.	श्री श्रेयांसनाथ जी	सिहपुरी–सारनाथ
१२.	श्री वासुपूज्य जी	चम्पा पुरी
१३.	श्री विमलनाथ जी	कम्पिला
१४.	श्री अनन्तनाथ जी	अयोध्या
१५	श्री धर्मनाथ जी	रत्नपुरी
१६.	श्री शान्तिनाथ जी	हस्तिनापुर
१७.	श्री कुन्थुनाथ जी	हस्तिनापुर
१८.	श्री अरहनाथ जी	हस्तिनापुर
१९.	श्री मल्लिनाथ जी	मिथिलापुरी
२०.	श्री मुनि सुव्रतनाथ जी	राजगृह
२१.	श्री नेमिनाथ जी	मिथिला
२२.	श्री अरिष्टनेमिनाथ जी	शौरीपुर
२३.	श्री पार्श्वनाथ जी	काशी
२४.	श्री महावीर स्वामी जी	कुडग्राम–वैशाली

इनमे से धर्मनाथ, अरहनाथ और कुन्थुनाथ का जन्म कुरुवश मे, मुनि सुव्रतनाथ का हरिवश और शेष तीर्थंकरो का जन्म इक्ष्वाकुवश मे हुआ था।

सभी तीर्थंकरो का जीवन कठोर तपोमय था। सभी तीर्थंकरो ने प्रव्रज्या अगीकार की, तीव्रतपश्चर्या की और पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। कृत कृत्य होकर भी जगत् के समस्त जीवो की करुणा–भावना से प्रेरित होकर मुक्तिमार्ग का उपदेश दिया, व्रतो की व्यवस्था की और तत्व का यथार्थ स्वरूप वतलाया। अन्त मे निर्वाण प्राप्त कर परमात्मा वने और सिद्ध बुद्ध तथा अनन्त आत्मिक गुणो से समृद्ध हुए। इनमे से वहुप्रचलित तीन तीर्थंकरों का जीवन परिचय नीचे दिया जाता है।

भगवान् नेमिनाथ

यह यदुवश के महान् प्रतापी महाराज समुद्रविजय के पुत्र और महारानी शिवा के आत्मज और श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे। वैदिक सन्ध्योपासना के शान्तिमत्र मे "अरिष्टनेमि शान्तिर्भवतु," इन शब्दो से उनकी स्तुति की जाती है। वेदो मे भी अनेक स्थलो पर उनका उल्लेख हुआ है।

राजा उग्रसेन की कन्या राजमती के साथ इनका विवाह होना निश्चित हुआ। वारात रवाना हुई और श्वसुरगृह पहुच ही रही थी कि मार्ग मे अरिष्टनेमि ने पशुओ की करुण चीत्कार सुनी। सारथी से पूछने पर उन्हें विदित हुआ कि वारातियो के मासभक्षण के लिए यह सब पशु एकत्र किए गए है। यह जानकर उन्हे असह्य मनोव्यथा हुई। उनका अन्त करण करुणा से प्लावित हो उठा, उसी समय उन्होने सारथी को आज्ञा देकर सव पशुओ को वन्धन-मुक्त करा दिया।

इस घटना का उनके जीवन पर स्थायी प्रभाव पडा। वे विवाह से मुख मोड कर विरक्त हो गये और तपस्या करने चले गये।

भगवान् अरिष्टनेमि का पशुरक्षण आन्दोलन जूनागढ के निकट से आरम्भ हुआ और समूचे सौराष्ट्र और भारत मे फैल गया। इस त्यागमूलक आन्दोलन ने लोगो के नेत्र खोल दिये। आज भी सौराष्ट्र मे शेष ससार की अपेक्षा बहुत कम हिंसा होती है, यह भगवान् अरिष्टनेमि के इस पशुसंरक्षण आन्दोलन का ही फल है।

गिरनार गिरि पर आरूढ होकर अरिष्टनेमि ने स्वत दीक्षा धारण की। तपस्या करके कर्मो का क्षय किया और पूर्ण ज्ञानी वने। अन्त मे मुक्तिलाभ कर सिद्ध हो गए।

भगवान् पार्श्वनाथ

तेईसवे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म २८०० वर्ष पहले हुआ था। वे राजपुत्र थे। महाराजा अश्वसेन इनके पिता थे। माता का नाम वामा देवी था। भारत के विख्यात. विद्याधाम काशी में इनका जन्म हुआ था।

गगातट पर एक तापस अग्निताप सहन कर रहा था। पार्श्वनाथ ने उसे वतलाया कि तेरी धूनी के लक्कड़ में नाग-नागिन का एक जोडा जल रहा है। राजकुमार की यह वात सुनकर तपस्वी क्रुद्ध और क्षुब्ध हो गया। तापस ने अग्नि मे से वह लक्कड़ निकाल कर फाड़ा तो राजकुमार की वात सच निकली। दर्शकगण तापस के अज्ञान का विचार कर म्लानमुख हो गये। तापस लज्जित था, क्रुद्ध था, परन्तु विवश था।

मृत्यु के पश्चात् तापस देवयोनि मे जन्मा। उधर पार्श्वनाथ गृहत्याग कर साधु वन चुके थे। उस देव ने अपने अपमान का प्रतिशोध करने के लिए भगवान् को वहुत कष्ट पहुचाये। उसने एक वार उन्हे जलवृष्टि मे डुबा देने की कुचेष्टा की, किन्तु उस नाग-नागिन के युगल ने, जो मर कर धरणेन्द्र देव और पद्मावती के रूप मे जन्मा था, आकर भगवान् का उपसर्ग निवारण किया।

भगवान् पार्श्वनाथ भारत के प्रसिद्धतम नागवंश में उत्पन्न हुए थे। आज के इतिहासज्ञ विद्वानो ने आपकी ऐतिहासिकता इस प्रकार स्वीकार की है :—

"श्री पार्श्वनाथ भगवान् का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिंसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना, यह चातुर्याम सवरवाद उनका धर्म था। इसका उन्होंने भारत भर मे प्रचार किया। इतने प्राचीन काल मे अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह सर्वप्रथम उदाहरण है।"

"श्री पार्श्वनाथ ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह-इन तीनो नियमो के साथ अहिंसा का मेल विठाया। पहले अरण्य मे रहने वाले ऋषि-मुनियो के आचरण मे जो अहिंसा थी, उसे व्यवहार मे स्थान न था। तीन नियमो के सहयोग से अहिंसा सामाजिक वनी, व्यावहारिक वनी।"

इन उद्धरणो से विदित होगा कि अहिंसा के सर्वप्रथम (इतिहास सिद्ध) व्यावहारिक प्रयोग-द्रष्टा पार्श्वनाथ ही थे।

भगवान् पार्श्वनाथ ने लगभग ७० वर्ष तक भारतव्यापी अहिंसा का प्रचार किया और १०० वर्ष की उम्र मे सम्मेद-शिखर पर जाकर निर्वाण प्राप्त किया। भारत मे अहिंसा को विराट् बनाने का श्रेय भ० पार्श्वनाथ का ही है, जिन्होने जगली जातियो को अहिंसक बनाया। कृतज्ञता प्रकाशन के लिए और उनके पावन उपदेशो की चिरस्मृति के लिए भारत राष्ट्र ने पर्वतो तक के 'पारस' नाम रख दिये। सम्मेद शिखर का दूसरा नाम "पारसनाथ-हिल" है।

प्रसेनजित पर हुए बर्बर आक्रमण के अवसर पर काशी-कोशल राष्ट्रों की ओर से आप अकेले ही उसकी सहायता करने गये। उन्होंने एक ही अमृत-वचन से एक दूसरे के खून के प्यासे राजाओ को शान्त करके मित्र बना दिया था। यह उनके विलक्षण वाक्-कौशल का और आन्तरिक शुचिता का ज्वलन्त प्रमाण था।

भगवान् महावीर

उस युग के महाराजा तथा गणराज्य के अधिपति चेटक की बहिन थी त्रिशला देवी। उनका विवाह ज्ञातृवशीय क्षत्रिय सिद्धार्थ के साथ हुआ। जैन-शास्त्रो मे महाराज सिद्धार्थ का उल्लेख "सिद्धत्थे खत्तिए" और "सिद्धत्थे राया," के नाम से हुआ है।

यही देवी त्रिशला भगवान् महावीर की माता थी, और सिद्धार्थ भगवान् के पिता थे। ईसा से ५९९ वर्ष, पूर्व ऋतुराज वसन्त जब अपने नव यौवन की अगड़ाई ले रहा था, नैसर्गिक सुषमा अपना सिगार कर रही थी, प्रकृति प्रसन्न थी और जन-जन के मानस मे अपूर्व उल्लास और आह्लाद उत्पन्न कर रही थी, तब चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन भगवान् महावीर ने अपने जन्म से इस पृथ्वी को पावन किया। उनका नाम वर्द्धमान रक्खा गया।

उनके बाल्यकाल की अनेक घटनाएं जैन ग्रथो मे उल्लिखित है, जिनसे प्रतीत होता है कि वर्द्धमान "होनहार विरवान के, होत चीकने पात" की उक्ति के अनुसार बचपन से ही अतीव बुद्धिमान्, विशिष्ट ज्ञानवान्, धीर, वीर और साहसी थे। उनके माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी थे, अतएव अहिंसा, दया, करुणा और संयमशीलता के वातावरण मे उनका लालन-पालन हुआ।

वर्द्धमान मे एक बड़ी जन्मजात विशेषता थी अलिप्तता – अनासक्ति की। राजप्रासाद मे रहते हुए भी और उत्कृष्ट भोग सामग्री की प्रचुरता होने पर भी वे समस्त भोग पदार्थों मे अनासक्त रहते थे। उनकी अन्तरात्मा मे एक असाधारण प्रकाश था, एक दिव्य ज्योति थी, जो उन्हे एक निराला ही पथ प्रदर्शित करती रहती थी।

वर्द्धमान स्वभाव से ही अत्यन्त गम्भीर और सात्विक थे। उनकी देह अनुपम स्वर्ण समगौर वर्ण और अतिशय प्राणवान थी। उनका आनन ओजस्वी, ललाट और वक्षस्थल विशाल था। सात हाथ ऊचा उनका सम्पूर्ण शरीर असाधारण सौन्दर्य की पुरुषाकार प्रतिमा के समान था। फिर भी उनका मानस वैराग्य – रग से रगा हुआ था। वे कभी-कभी अतिशय गभीर प्रतीत होते, मानो ससार के दु.ख–दावानल से पार होने की चिन्ता मे हो। इठलाता हुआ यौवन भी उन्हे भोगो मे नही फसा सका। उनकी वृत्तिया वस्तुत आत्माभिमुखी थी।

दिगम्बर–परम्परा के अनुसार वह अविवाहित ही रहे और श्वेताम्बर–परम्परा के अनुसार विवाहित होकर भी वे कभी भोगो मे आसक्त नही हुए।

वर्द्धमान के माता-पिता का स्वर्गवास हुआ, उस समय उनकी अवस्था २८ वर्ष की थी। विरक्ति के जन्मजात सस्कार सभवतः इस घटना से उभर आये और उन्होने अपने ज्येष्ठ बन्धु नन्दिवर्धन के समक्ष दीक्षित होने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर दिया। नन्दिवर्धन माता–पिता के वियोग से व्याकुल थे ही, वर्द्धमान के इस प्रस्ताव से उनकी मनोव्यथा की सीमा न रही। नन्दिवर्धन ने उनसे कहा–'बन्धु, जले पर नमक मत छिडको। माता पिता के विछोह की कथा ही दु सह लग रही है, तिस पर भी तुम मुझे निराधार छोड़ देने की बात कहते हो। मै इतनी बडी व्यथा न सह सकूंगा।'

भगवान् वर्द्धमान अतिशय नम्र, सौम्य, विनीत और दयालु थे। किसी को पीड़ा उपजाना तो दूर रहा, वे किसी को म्लानमुख भी नही देख सकते थे। नन्दिवर्धन के व्यथा-निवेदन से उन्होने सकल्प मे परिवर्तन तो नही किया मगर दो वर्ष के लिए उसे स्थगित कर दिया। इन दो वर्षों मे वे गृहस्थ योगी की भाति रहते रहे।

आखिर तीस वर्ष की भरी जवानी मे उन्होने गृह त्याग किया। वह बुद्ध की भाति, पारिवारिक जनो को सोता छोडकर, रात्रि मे, चुपके चुपके से नही निकले, वरन् कुटुम्बियो से अनुमति लेकर त्यागी बने।

यही से वर्द्धमान स्वामी का साधक–जीवन आरम्भ होता है। बारह वर्ष, पाचमास और पन्द्रह दिन तक कठोरतर साधना करने के पश्चात् उन्हे केवल-ज्ञान की प्राप्ति हुई।

इस लम्बे साधना–काल का विस्तृत वर्णन जैनागमो मे उपलब्ध है। उससे प्रतीत होता है कि वर्द्धमान की साधना अपूर्व और अद्भुत, थी। जब हम उनके तीव्रतम तपश्चरण का वृत्तात पढते हैं तो विस्मय से रोगटे खड़े हो जाते हैं। इस विशाल भूतल पर असख्य महापुरुष, अवतार कहे जाने वाले विशिष्ट पुरुष तथा तीर्थंकर हुए हैं, मगर इतनी कठिन तपस्या करने वाला पुरुष दूसरा नही हुआ। भयानक से भयानक यातनाओ मे भी उन्होने अपरिमित धैर्य, साहस एवं सहिष्णुता का आदर्श उपस्थित किया। गोपाल, शूलपाणि यक्ष, संगम देव, चण्डकौशिक सर्प, गौशालक और लाढ देश के अनार्य प्रजाजनो द्वारा पहुंचाई गई पीड़ाए भगवान् की अनन्त क्षमता और सहिष्णुता का ज्वलन्त निर्देशन है। रोमाच-कारिणी उत्पीड़ाओ के समय भगवान् हिमालय की भाति अडिग, अडोल और अकम्प रहे। तपश्चरण मे असाधारण वीर्य प्रकट करने के कारण ही वे "महावीर" के सार्थक नाम से विख्यात हुए।

आगत कष्टों, परीषहो और पीड़ाओ को दृढतापूर्वक सहर्ष सहन करने वाला पुरुष वीर कहलाता है, परन्तु भगवान् तो आत्मशुद्धि के लिए कभी-कभी कष्टो को निमत्रण देकर बुलाते, उनके साथ संघर्ष करते और विजयी बनते थे। इस कारण वह अतिवीर और महावीर कहलाये। विशेष वर्णन के लिए देखिए आचाराङ्ग, (प्र० द्वि० श्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति आवश्यकचूर्णि आदि)

कितनी अद्भुत बात है कि साढे बारह वर्ष के तपस्याकाल मे भगवान् ने छह महीनो जितना लम्बा काल निराहार और निर्जल रहकर बिता दिया। इस १२॥ वर्ष के दीर्घकाल मे उन्होने कुल मिलाकर ३४९ दिन भोजन किया और शेष दिनो में उपवास किया। और यह भी कम आश्चर्यजनक नही कि उन्होने एक अपवाद के सिवाय कभी निद्रा भी नही ली। जब नीद आने लगती तो वे थोड़ी देर चंक्रमण करके निद्रा भगा देते और सदैव जागृत रहने का ही प्रयत्न करते रहते थे। इससे ज्ञात होता है कि अभ्यास के द्वारा निद्रा पर मनुष्य विजय प्राप्त कर सकता है।

सर्वोत्कृष्ट साधना के फलस्वरूप भगवान् महावीर को सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक सम्पत्ति उपलब्ध हुई। इससे इन्हें सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पद प्राप्त हुआ।

तत्पश्चात् भगवान् ने तत्व के स्वरूप तथा मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया। तीस वर्ष तक स्थान-स्थान पर परिभ्रमण करके अन्त में पावापुरी पधारे। मोक्ष की घड़ी निकट थी, किन्तु वे विश्व को अपनी पुण्यमयी, कल्याणकारिणी और परमपावनी वाग्धारा से आप्लावित कर रहे थे। आखिर कार्तिक कृष्णा अमावस्या को रात्रि मे वे समस्त कर्मों से विनिर्मुक्त, अशरीरी सिद्ध हो गए।

भगवान् महावीर विश्व के अद्वितीय क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उनकी क्रान्ति एक क्षेत्र तक सीमित नही थी। उन्होने सर्वतोमुखी क्रांति का मन्त्र फूका था। आध्यात्मिक, दर्शन, समाजव्यवस्था, यहा तक कि भाषा के क्षेत्र मे भी उनकी देन बहुमूल्य है। उन्होने तत्कालीन तापसो को तपस्या के बाह्य रूप के बदले बाह्याभ्यन्तर रूप प्रदान किया। तप के स्वरूप को व्यापकता प्रदान की। पारस्परिक खण्डन-मण्डन में निरत दार्शनिको को अनेकान्तवाद का महामन्त्र दिया। सद्गुणों की अवगणना करने वाले जन्मगत जातिवाद पर कठोर प्रहार कर गुण-कर्म के आधार पर जाति-व्यवस्था का प्रतिपादन किया। इन्होने नारियो की प्रतिष्ठा को भूले हुए भारत को साध्वी-सघ बनाकर प्रतिष्ठा प्रदान की। यज्ञ के नाम पर पशुओ से खिलवाड करने वाले स्वर्गकामियो को स्वर्ग का सच्चा मार्ग बतलाया। नदी-समुद्रो में स्नान करने से, आग में जल मरने से या पाषाणो की राशि इकट्ठी कर देने से धर्म समझने की लोकमूढता का ह्रास किया। लोकभाषा को अपने उपदेश का माध्यम बनाकर पण्डितो के भाषाभिमान को समाप्त किया। सक्षेप मे यह कि महावीर स्वामी ने समाज के समग्र मापदड बदल दिये और सम्पूर्ण जीवन दृष्टि मे एक दिव्य और भव्य नूतनता उत्पन्न कर दी।

भगवान् महावीर का उदार संघ

यो तो भगवान् महावीर के चौदह हजार सत शिष्य थे, किन्तु ग्यारह उनमे प्रधान थे, जो जैन परम्परा मे गणधर नाम से विख्यात हैं। यह ग्यारहो शिष्य पहले वैदिक धर्म के अनुयायी थे, और वेद-वेदाग के पारगामी प्रखर पण्डित थे। इनमे भी गौतम इन्द्रभूति के पाण्डित्य की सबके ऊपर धाक थी। वह भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने गये। पर भगवान् से प्रभावित होकर उनके शिष्य बन गये। उनके पश्चात् शेष दसो ने भी उन्ही का अनुसरण किया। सबने आर्हती दीक्षा अगीकार की और वे वीरसंघ के स्तभ बने।

भगवान् के अनुपम त्यागी, तप और सयममय उपदेश सुनकर वीरागक,

वीरयक्ष संजय, एणेयक, सेय, शिव, उदयन तथा शंख, इन आठ समकालीन राजाओ ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

अभय कुमार, मेघकुमार आदि अनेक राजकुमारो ने प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया। स्कन्धक प्रभृति अनेक तापस तपस्या का रहस्य जानकर भगवान की शरण मे आये, राजकुमारी चन्दनबाला, देवानन्दा आदि छत्तीस हजार नारियां साध्वी-सघ मे प्रविष्ट हुई।

भगवान् के गृहस्थ अनुयायियो मे मगधाधिपति श्रेणिक, कूणिक (अजातशत्रु), वैशालीपति चेटक (महावीर के मामा), अवंतीपति चण्डप्रद्योत आदि अनेक भूपति थे। आनन्द, काम देव आदि लाखो श्रावक थे, जिनमे शकटाल जैसे धर्मनिष्ठ कुंभार भी सम्मिलित थे। हरिकेशी और मेतार्य जैसे अतिशूद्र भी भगवान् के सघ मे साधुपद प्राप्त कर सके थे। कहना न होगा कि उस जमाने मे यह एक जबर्दस्त क्रान्ति थी। अब तक के ज्ञात इतिहास मे भगवान् महावीर ही प्रथम महापुरुष है, जिन्होने अस्पृश्यता के विरुद्ध तीव्र और स्पष्ट स्वर मे आवाज उठाई और अस्पृश्यो को अपने सघ मे उच्च पद प्रदान किया।

महावीर की देन

१ जाति-पाँति की भेदभाव भरी दरारो को दूर कर मानव समाज के लिए सार्वभौमिक एव सर्वसुलभ धर्मव्यवस्था स्थापित करना। ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, क्षत्रिय वर्णों का अभिमान आदि बुराइयो को मिटाकर गुण विकास की ओर मानव-जाति को उन्मुख करना ही महावीर का अधिक लक्ष्य रहा है।

२ विराट् विश्व मे सचराचर (जगम एवं स्थावर) समस्त प्राणीवर्ग मे एक शाश्वत स्वभाव है और वह है जीवन की आकांक्षा, सुख की शोध, महान् बनने की उत्प्रेरणा और परमानन्द प्राप्त करने की उद्भावना। इसलिए किसी को "मा हणो" न कष्ट ही पहुँचाओ और न किसी अत्याचारी को प्रोत्साहन ही दो।

३ आचार मे अहिंसा, बुद्धि मे समन्वय और व्यवहार में अपरिग्रह का आदर्श साकार करो।

४ आत्मा का स्वभाव ही धर्म है और विभाव ही अधर्म है, यही कारण है कि भगवान् ने पुरुषो की तरह स्त्रियो के भी विकास के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की है।

५. भाषा के व्यामोह पर जो कि अभी तक भी भारत का खून चूस रहा है, और देश को प्रान्तो के नाम से बंटवारे कर खडित कर रहा है, भगवान ने गहरा कुठाराघात किया है। इसलिए तत्कालीन पडिताऊ भाषा सस्कृत में तत्वज्ञान न देकर उस समय की आम जनता की भाषा अर्ध-मागधी प्राकृत का ही भगवान् ने अपनी वाणी का माध्यम रखा है, जिससे सब लाभ उठा सके।

६ ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिए होने वाले पशुहिसा से भरे यज्ञ, देवीपूजन तथा पशुबलिकर्म और पर्व के विरुद्ध मे भगवान् ने अपनी आवाज बुलन्द की और सयम, तप, अहिंसा तथा पुरुषार्थ प्रधान मार्ग की महत्ता स्थापित की।

७ उनका उपदेश समता, वैराग्य, उपशम, निर्वाण, शौच, ऋजुता, निरभिमान, कषाय, अप्रमाद, निर्वैर, अपरिग्रह आदि गुणो के विकास के लिए होता था।

८ मनुष्य का भाग्य ईश्वर के हाथो मे न देकर, मनुष्य-मनुष्य को ही अपने भाग्य का निर्माता तथा पुरुषार्थ की प्रधानता और काल, कर्म, नियति, स्वभाव, तथा पुरुषार्थ का समन्वय स्थापित करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य था। इसी का नाम कर्मवाद है।

९ आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद, और क्रियावाद महावीर की विशेष देन है।

१० प्रत्येक आत्मा, परमात्मा बन सकता है, रागद्वेष-रहित व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण होता है। इच्छाओ का निरोध ही यज्ञ है, आत्मा की निर्मलता धन-दौलत से नही। त्याग मे ही कल्याण सभव है। अहकार का दमन और पर का रक्षण ही क्षत्रियत्व है।

ससार के समस्त जीवो के प्रति मैत्री, गुणियो के प्रति प्रमोद, निर्बल एव विपन्न के प्रति दयाभाव और विपरीत वृत्ति वाले मनुष्य के प्रति माध्यस्थ भाव रखना ही धर्म है।

महावीर स्वामी दूसरो के प्रति हितैषी एव अपने प्रति शोधक बनने का ही उपदेश देते थे।

तत्कालीन धर्म-प्रवर्तक

महावीर कालीन अन्यान्य धर्म प्रवर्तक—जामाली, मखली पुत्तगोशाल पूरणकश्यप, प्रकुद्धकात्यायन, अजितकेशी कम्बलि, सजय वेलट्ठिपुत्त और

गौतमबुद्ध आदि आदि भगवान् महावीर के समान काल में अपना-अपना धर्म स्थापित कर रहे थे। इनमे जामाली भगवान् महावीर के जामाता थे, जो महावीर के केवल-ज्ञान होने पर १५ वर्ष पश्चात् महावीर के विरोधी वन गए थे।

गोशालक

गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य था। उसके सम्प्रदाय का उल्लेख आजीवक मत के नाम से आज भी कही-कही शास्त्रों मे पाया जाता है। बौद्ध पिटकों मे भी उसका उल्लेख है।

गोशालक का जीवन अत्यन्त विलक्षण था, किन्तु जितना विलक्षण था उतना ही उच्छृंखल भी था। उसका जन्म ब्राह्मण कुल मे हुआ था। भगवान् महावीर से उसे ज्ञान-प्राप्ति हुई। आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना मे उसके जीवन का विकास हुआ। लेकिन उसकी वुद्धि ने पलटा खाया और अरिहन्त देव से उसने वाद-विवाद कर पराजय का मुख देखा। अन्त मे उसने क्षमा याचना की, तत्पश्चात् उसका देहान्त हो गया यही गोशालक का रेखाचित्र है।

जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक को भगवान् महावीर से आध्यात्मिक ज्ञान की विरासत मिली थी। यहा तक कि उच्च विद्याएं भी उसने भगवान् की कृपा से प्राप्त की थी। जिनमे तेजोलेश्या जैसी लब्धिया भी हैं लेकिन उसकी उद्दण्ड वृत्ति और उच्छृंखलता ने उसको आजीवक सम्प्रदाय वनाने के चक्कर मे डाला, और उसने केवल नियति को मुख्य सिद्धान्त वनाकर सम्प्रदाय की स्थापना की।

उस समय तो, गोशालक का वर्चस्व एव प्रभाव इतना था कि सम्प्रदाय चल निकला। लेकिन उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका प्रभाव कम हो गया। गोशालक का जीवन सुन्दर होते हुए भी शालीनता-हीन था, अत' महावीर ने उसे अपने सुशिष्य के स्थान पर कुशिष्य रूप मे स्वीकार किया है।

गोशालक और महावीर का वर्णन भगवती सूत्र मे वहुत विस्तार से दिया गया है। उसकी तेजोलेश्या से दो साधुओ का भस्म हो जाना और भगवान् के दाह का होना भी शास्त्र मे वर्णित है।

उपर्युक्त सभी धर्म-प्रवर्तको से भगवान् महावीर का दार्शनिक, सैद्धान्तिक अथवा आचारविषयक वहुत मतभेद है। महावीर समन्वय-दृष्टि अथवा अनेकान्तात्मक विचारणा को ही मुख्य महत्व देते थे। वे आग्रह को बुरा मानते थे।

विभिन्न दृष्टिकोणो अथवा आंशिक सत्यो का समन्वय करना ही अनेकान्त है।

महावीर और बुद्ध

महावीर का विशेष सामना बुद्ध से हुआ। बुद्ध शाक्य गोत्रीय थे। शुद्धोधन महाराज के पुत्र थे, वे भी तपस्वी बने, उन्हें ज्ञान भी प्राप्त हुआ, उपदेश-परम्परा द्वारा उन्होने भी अपने को अरिहन्त बताया।

महावीर और बुद्ध की तुलना इस प्रकार की जा सकती है :—

	महावीर	बुद्ध
पिता	सिद्धार्थ	शुद्धोधन
माता	त्रिशला	महामाया
गोत्र	कश्यप	कश्यप
ग्राम	क्षत्रियकुडग्राम	कपिलवस्तु
जात	ज्ञात	शाक्य
जन्म सवत्	ई० पू० ५९९	ई० पू० ६००
स्त्री	यशोदा	यशोधरा
सतान	प्रियदर्शना (पुत्री)	राहुल (पुत्र)
दीक्षा	५६९ (३० वर्ष की उम्र मे)	५७१ (२९ वर्ष की उम्र मे)
आदितप	१२ वर्ष	६ वर्ष
ज्ञान प्राप्ति का स्थान	ऋजुवालुका तट	गया
निर्वाण	वि० स० से (५२७) वर्ष पूर्व	वि० स० ५२० वर्ष
निर्वाण स्थान	मध्यम अपापा (पावापुरी)	कुशी नगर
आयुष्य	७२ वर्ष	८० वर्ष
महाव्रत	पाच महाव्रत	पाच शील
सिद्धान्त	अनेकान्तवाद	क्षणिकवाद (विभज्यवाद)

महावीर, और बुद्ध में समानता और विभिन्नता

जहा कुछ विभिन्नताए है, वहा भगवान् महावीर और बुद्ध मे समानताए भी है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, तथा अपरिग्रह और तृष्णा निवृत्ति आदि

मे बुद्ध की भी दृष्टि बहुत ऊची थी। ब्राह्मणसंस्कृति के सम्मुख ये दोनो श्रमण-संस्कृति के उज्ज्वल नक्षत्र थे।

न केवल एशियाई वसुन्धरा पर, वरन्, समस्त विश्व के कोने-कोने मे दोनो ने अपनी दिव्य करुणा का अमृत प्रवाहित किया है और ज्ञान-प्रकाशद्वारा विश्व की भूत एव भावी पीढियों को मार्ग दर्शन दिया है।

जीवन-शोधन, अहिसा-पालन और श्रमण के लिए आवश्यक नियमो में इन दोनो महापुरुषो मे सामान्यतया अधिक अन्तर नही है।

दोनों मे भोग के प्रति गहरी घृणा है। राग-द्वेष के प्रति शत्रुता है। आत्म-शुद्धि के लिए उत्कट प्रेरणा है। अहिसा दोनो को प्रिय रही है।

दोनों संस्कृतियों की मूल प्रेरणा एक

जैन सस्कृति और बौद्ध सस्कृति की मूल-प्रेरणा लगभग एक सी है। "पार्श्वनाथा चा चारयाम" ग्रंथ मे पं० धर्मानद कौशाम्बी ने तो यहा तक सिद्ध कर दिया है कि भगवान् बुद्ध ने भगवान् पार्श्वनाथ के चार याम धर्म का ही पांच-शील अथवा अष्ट अंग के नाम से विकास किया है।

ऐतिहासिक विद्वान तो यहां तक खोज कर चुके है कि भगवान् बुद्ध पार्श्वनाथीय सम्प्रदाय के किसी साधु के साथ रहे थे। किन्तु बाद मे जाकर उन्हे कठोर तपस्या के प्रति घृणा हो गई और उन्होने अपना अलग मध्यम मार्ग निकाला।

"भारतीय सस्कृति और अहिंसा" मे धर्मानंद कौशाम्बी ने भगवान पार्श्व-नाथ के चार याम की तथा बुद्ध के मध्यम-मार्ग की बड़ी सुन्दर तुलना की है।

सम्यक् कर्म	(अहिंसा, अस्तेय)
सम्यक् वाचा	(असत्य)
सम्यक् आजीव	(अपरिग्रह)

इस प्रकार पार्श्वनाथ के चार यामो का समावेश अष्टांगिक मार्ग के तीन अगो मे हुआ है। शेष पाच भी अहिसा के ही पोषक है। जैसे सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् व्यायाम सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

बुद्ध इस प्रकार का एव वाचा का सयम, सम्यक्त्व करके मानसिक-शुद्धि की अभिवृद्धि की कल्पना करते थे।

जैन और बौद्ध धर्म मे चाहे धार्मिक अथवा सैद्धान्तिक मतभेद हो, तो भी

इन दोनो धर्मों ने और उनकी संस्थाओ ने विश्व में अहिंसा प्रचार कार्य का बहुत वडा अनुष्ठान रचा है। दोनो श्रमण संस्कृति के शुद्ध मूलाधार रहे हैं। आज भी बौद्ध समाज मे जैनधर्म के प्रति श्रद्धाभावना है।

सात निन्हव और अन्य विपक्षी

१. भगवान् महावीर के केवल ज्ञान के १४ वर्ष पश्चात् बहुरत सम्प्रदाय के स्थापक जामाली निन्हव का नाम आता है। आज तो इस सम्प्रदाय का नाम ही शेष है।

२ १६ वर्ष वाद, जीव के प्रदेशो को लेकर, चतुर्दश पूर्वधारी आचार्य वसु के शिष्य तिष्यगुप्त ने एक वहुत वडा वितण्डावाद खडा किया था।

३ महावीर निर्वाण के २१४ वर्ष पश्चात् अव्यक्तवादी अषाढाचार्य ने;

४ २२० वर्ष वाद समुच्छेदवादी महागिरि के प्रशिष्य और कौडिण्य के शिष्य अश्वमित्र ने साधारण वातो पर प्रपच उठाकर, सघ मे फूट डालने की कोशिश की थी।

५ २२८ वर्ष वाद द्वैक्रियवादी महागिरि के प्रशिष्य और धनगुप्त के शिष्य गगाचार्य ने भी इसी प्रकार का प्रपच खडा किया था।

६. ५४४ वर्ष पश्चात्, त्रिराशिवादी श्री गुप्त के शिष्य रोहगुप्त ने, और

७ ५८४ वर्ष पश्चात् अभद्रवादी गोष्ठा महिल ने साधारण सी बातो पर धनगुप्त और अश्वमित्र के समान फूट डालने का प्रयास किया था, परन्तु सघ अटूट रहा। फूट स्वय फूट गई। तत्पश्चात् इन्होने अपने मत खडे किये।

महावीर सघ मे सात निन्हवो ने भयकरतम फूट डालने का प्रयास किया था। किन्तु सघ का सौभाग्य रहा कि फूट फल न सकी, और सातो निन्हवो को परास्त होना पड़ा।

सचेल अचेल—भगवान् महावीर के सघ मे जो सबसे वडी खटकने वाली बात थी सचेल और अचेल की विवादास्पद गुत्थी।

इसका मूल कारण-है पार्श्वनाथ के साधु सचेल थे और महावीर का बल अचेल होने की ओर था। जिसका समाधान पार्श्वापात्यिक केशी कुमार श्रमण को, महावीर संघ के प्रथम गणधर, गौतमस्वामी के द्वारा दिया गया था।

याम, चार और पांच —गौतमस्वामी ने चार याम की जगह पॉच याम सप्रतिक्रमण, रात्रि दिवस की व्यवस्था का जितना तर्कपूर्ण उत्तर दिया, उतनी

वस्त्रो के प्रति कठोर नीति नही अपनाई। मोक्ष के लिए पारमार्थिक लिग, साधन, ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप आध्यात्मिक सम्पत्ति का निर्देश किया और सचेल, अथवा अचेल को लौकिक लिंग मात्र कह कर और उसे पारमार्थिक सीमा से बाहर कहकर, उपेक्षा कर दी गई।

यही कारण थे कि समाज मे सचेल और अचेल की कोई निश्चित और नियमित रूपरेखा तैयार नही हो सकी।

महावीर ने महाव्रत और प्रतिक्रमाणात्मक अन्त शुद्धि पर जितना दढता से बल दिया उतनी दृढता से सचेल अथवा अचेल के एकान्तिक पक्ष पर नही दिया। यही कारण है कि उनके समय मे तो विवाद समन्वयात्मक सिद्धान्तो से और पार्श्वापात्यिक और महावीर सघ मे समझौतेवादी दृष्टिकोण से समूचे संघ मे प्रेम से काम चलता रहा, किन्तु जम्बू स्वामी एव भद्रबाहु जी के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व के समाज मे मे उठ जाने से सचेल और अचेल का पुराना विवाद श्वेताम्बर और दिगम्बर नाम से फूट निकला।

इतना निश्चित है कि भगवान् महावीर ने जब गृहत्याग किया तब एक वसन चेल धारण किया था, क्रमशः उन्होने हमेशा के लिए उस वस्त्र का त्याग कर दिया और पूर्णत अचेल हो गए।

आचाराग सूत्र १ श्रुत, अध्याय ९ उद्देशा प्रथम मे उनकी इस अचेलत्व भावना का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

जैसे कि —

णोचेविमेण वत्थेण, पिहिस्सामि तसि हेमते।
से पारए आवकहाए, एय खु अणुधम्मिय तस्स ॥ २

सवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेलए ततो चाई, तं वौसज्ज वत्थ मणगारे ॥ ४

णो सेवती य परवत्थ, परपाए वि सेण भुंजित्था।
परिवज्जियाण ओमाणं, गच्छति संखडि असरणाए ॥ १९

अर्थात् भगवान् महावीर के दीक्षा धारण समय इन्द्र प्रदत्त एक देववस्त्र प्राप्त हुआ था किन्तु भगवान् ने यह निश्चय किया कि मै इसे छोडकर ही शीत सहूगा और फिर उन्होने आजीवन वस्त्र धारण नही किया। इस देव-दत्त वस्त्र को परम्परा रूप मे ही स्वीकार किया और तेरह मास उपरान्त उतार दिया।

तत्पश्चात् अचेलक होकर विचरने लगे। सर्वथा वस्त्र रहित विचरण करने लगे। वे न तो पराए पात्र में भोजन करते थे, मानापमान का सर्वथा त्याग कर, स्वय भगवान् गृहस्थो के रसोईघर मे जाकर निर्दोष आहार की गवेषणा करते थे।

उपर्युक्त पाठ द्वारा प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर साधनावस्था में सर्वथा अचेल और उपकरण रहित थे, किन्तु भगवान् महावीर ने आचाराग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध मे साधुओ की वस्त्रैषणा मे वस्त्र रखने का स्पष्ट विधान किया है। आचाराग सूत्र १४ अध्याय प्रथम उद्देशे मे इसका स्पष्टीकरण मिलता है कि साधु ऊन का, पान का, कपास और रूई का वस्त्र ग्रहण कर सकता है।

भगवान् द्वारा अचेलत्व की प्रशंसा

लेकिन वस्त्र-विधान करने पर भी भगवान् महावीर आचाराग के छठे अध्याय के ३ उद्देशे मे अचेलक साधु की प्रशसा करते है और साधु के तीन मनोरथो मे पहला मनोरथ 'अचेल भयो आवई' के द्वारा अचेलक बनने की ओर साधु को उत्प्रेरित करते हैं। किन्तु, इन उद्धरणो से स्पष्ट अचेलकत्व का ऐकान्तिक आग्रह रखने वालो के लिए वस्त्र- विधान किया और अचेलकत्व को आदर्श रखा इससे ऐकान्तिक किसी भी सिद्धान्त सचेलकत्व व पूर्ण अचेलकत्व की पुष्टि नही होती है। इसलिए शास्त्र मे पार्श्वापात्यिक परम्परा मे से निकल कर महावीर संघ मे सम्मिलित होने वाले साधु और स्थविरो का, जहा सभी परिवर्तनो का उल्लेख आता है, वहा पर उनका सचेलकत्व से अचेलकत्व की ओर आने का कोई निर्देश प्राप्त नही होता। जबकि उनके चारयाम के स्थान पर पाच महाव्रत और रात्रिदिवस के प्रतिक्रमण का स्पष्ट विधान किया गया है। हमने उपर्युक्त स्पष्टीकरण इसलिए आवश्यक समझा है कि श्वेताम्बर आम्नाय मे वस्त्र पर और दिगम्बर आम्नाय मे अवस्त्र पर जोर दिया गया है। लेकिन भगवान् महावीर न सचेलकत्व और अचेलकत्व के आग्रही थे, न विरोधी।

क्योकि भगवान् महावीर को वस्त्रविवाद मे कुछ रस नही था और न पारमार्थिक सिद्धि मे वस्त्रो का कुछ भी उपयोग वे मानते थे। उन्हे तो साधक के लिए अन्त शुद्धि की अधिकतम अपेक्षा थी। यही कारण है कि उस समय वस्त्रावस्त्र के विवाद को समन्वयात्मक दृष्टिकोण से सुलझा लिया गया, हा,

द्रव्य, क्षेत्र, काल और मानव की उसमे व्यवस्था कर दी गई। जिसके अनुसार युगानुरूप समस्त सघ बाह्य विधान मे उचित परिवर्तन कर सके। ध्यान रहे, अचेलकत्व के आग्रह के कारण दिगम्बर आम्नाय मे स्त्री के मोक्ष का द्वार बंद कर दिया गया। इसमे हम आग्रह का विकृत रूप कह सकते है। त्याग की ओर बढना एक सत्य सिद्धान्त है, जो श्रेयस्कर है। किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के महत्व को भुलाकर नही, वरन् उनको योग्य कसौटी पर कसकर ही किसी सिद्धान्तानुसार प्रगति करना अधिक श्रेयस्कर होता है।

भगवान् महावीर की अन्य धर्मो पर छाप

श्रमण सस्कृति के प्रतिष्ठापको मे महावीर का एक अनन्यतम स्थान है। धार्मिक अन्धश्रद्धा, जनता की रूढिवादिता, और पाखंड के ठेकेदारो के विरुद्ध महावीर ने क्राति की, और सात्विक धर्म का प्रचार किया।

आत्मशुद्धि और राग-द्वेषनाश की ओर उनका प्रधान उद्देश्य था। जिसका प्रभाव तत्कालीन वैदिक परम्परा पर अधिकतम पड़ा।

भारत मे श्रमण और ब्राह्मण के नाम से उभयमुखी आर्यसंस्कृति का संस्मरण हुआ। जैन और बुद्ध धर्म के विचारो को श्रमण-सस्कृति वैदिक तथा वैष्णवो के सम्प्रदायो की विचारधारा को वैदिक-संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है।

वैदिक एवं जैन संस्कृतियां-समन्वयात्मक वृत्ति में परिपूर्ण

इतिहास तथा वैदिक वाङमय इस बात का साक्षी है कि वैदिको के पास श्रमण तथा साधु-सस्था के लिए कोई सुव्यवस्थित विधान-शास्त्र तथा आचार-शास्त्र उपलब्ध नही है। यद्यपि बौद्धो और जैनों के पास भी गृहस्थो के लिए धर्म-विधान के सिवाय गृहस्थधर्म को बताने वाले धर्मग्रथो का अभाव है।

इसीलिए मै समझता हू कि ये दोनो संस्कृतिया अपने आप मे नही, अपितु समन्वयात्मक वृत्ति मे ही परिपूर्ण है। यदि हम वैदिक संस्कृति को पेट और चरण कह सकते है, तो जैन और बौद्ध सस्कृति को हृदय और मस्तिष्क कह सकते है।

सस्कार और श्राद्ध, कर्म और त्याग, निवृत्ति और प्रवृत्ति, इन सबका मेल जीवन के क्षेत्र में यदि आवश्यक है तो वैदिक और जैन सस्कृति का भी समन्वय अत्यधिक उपयोगी है।

ऐतिहासिक भागों मे यदि सचोट तर्क द्वारा इस संस्कृति के आदान-प्रदान का यथार्थ वर्णन किया जाये तो हमे कहना होगा कि साधु सस्था का विधान जैन और बौद्ध धर्म के सिवाय अन्यत्र कही उपलब्ध नही है, वैदिक धर्म में साधु धर्म का विधान केवल जैन आचार शास्त्र का वैदिक छायानुवाद मात्र है। जैन तथा बौद्ध सम्प्रदाय में गृहस्थकर्मो का सासारिक विधान वैदिक विधान का भावानुवाद मात्र है।

जैन, बौद्ध तथा वैदिक ये तीनो विचारधाराएं समुचित रूप मे ही वास्तविक अनेकान्त की अजस्रप्रवाहिनी अमर धाराए है। इनके सगम से भारतीय-सस्कृति का सूर्य चमका है।

यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि ये तीनों धाराए एक दूसरे से प्रामाणिक एवं अनुप्राणित है। तीनो ने जी भर कर एक दूसरे से अपने पोषण तत्वों को प्राप्त किया है। कम से कम, निवृत्ति त्याग तथा साधु सस्था का नियमित रूप वैदिकों को जैन धर्म की देन है। अहिंसा की प्रतिष्ठा तथा वैष्णवो की आहार शुद्धि और आत्मा तथा परमात्मा की एकरूपता तो वैदिक धारा को जैन धर्म की ही विरासत है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा के अतिरिक्त सर्वप्रथम, भाव-यज्ञ की स्थापना की, जिससे देश के पवित्रतम ब्राह्मणो की हिसाप्रधान यज्ञवृत्ति से रुचि हट गई।

इसी समय, राक्षसी वृत्ति को छोड़कर राजाओ ने श्रावक धर्म स्वीकार किया। वैदिक गृहस्थो और ब्राह्मणो पर महावीर की अहिसा की इतनी छाप पडी कि आज सैकडो वर्षो से याज्ञिक हिसा देश से लोप हो गई।

सन्यासियो, त्रिदण्डियो और योगियो का अधिकाधिक ध्यान अहिसा तथा महावीर प्रणीत श्रमण-आचार-शास्त्र पर गया। जिसके फलस्वरूप अध्ययन अथवा श्रवण द्वारा उन्होने अपने सम्प्रदायो मे वे नियम लागू किए। त्रिदण्डी सन्यासियो की क्रिया पर जैनधर्म की श्रमण-परम्परा का पूरा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

अन्य धर्मों पर श्रमण-परम्परा की छाप

बुद्ध और महावीर के साधुओ मे सैद्धान्तिक आचार-सम्बन्धी मान्यताए तो कितनी ही एक जैसी दीखती है।

जामाली और गोशालक की परम्परा ने महावीर स्वामी की श्रमण परम्परा से ही पाठ पढा था।

सचमुच, महावीर की श्रमण-संस्था अपेक्षाकृत बहुत सुव्यवस्थित और समुन्नत थी। आज भी महावीर के साधुओ के आचार-संयम तथा तप को वृम वैज्ञानिक विश्व आश्चर्य से देख रहा है कि जैन साधु किस प्रकार इतना त्याग कर लेते हैं, और अपने जीवन का कल्याण करने में सफल होते हैं। भारतवर्ष में आज भी जैन साधुओ को जितना विश्वास तथा आदर दिया गया है, वह सब महावीर की समुचित व्यवस्था का ही वरदान है।

तत्कालीन सकट और-साधु-सस्था—जैन साधु परम पर्यटक होता है। इसका घर वार परिवार उसके कन्धो पर रहता है। ग्राम, पिडोलक और नगर पिंडोलक साधुओ को भगवान् ने पापी श्रमण तक कह दिया क्योकि एक जगह अधिक देर निवास करना ही सयम शिथिलता का कारण वन जाता है।

जैन श्रमण पाद विहारी है वह दूसरे के सहारे के आधीन नहीं है। उसे तो अपने ही पैरो से समूची-भूमि, विकट अटवी तथा भयानक वनान्तर नापने पड़ते है। इसलिए शास्त्रो मे साधु सस्था पर आए हुए घोरतम संकटो का विस्तृत वर्णन किया गया है। साथ ही, उस अपवाद-मार्ग का भी निर्देश किया गया है जिसे साधु समय-असमय पर उचित विधान के अनुसार अवलम्बन रूप में अपना सके। साधु-साध्वी के सामने मुख्य समस्या चोर-डाकुओ का उपद्रव, नदी पार करने के लिए वाहन का उपयोग, बीमारी, सर्प-विच्छु का विषैला उपद्रव मिटाने के लिए औषधोपचार, सकटकालीन स्थिति मे राजसस्था मे जैन साधुओ का हस्तक्षेप, विधर्मी राजा द्वारा उठाये गये उपद्रव का निराकरण, दुर्भिक्ष के समय भिक्षा की समस्या का समाधान, धार्मिक संकट का प्रतिकार, संघ विपत्ति का निवारण आदि समस्त समस्याओ का समाधान-भगवान् महावीर ने विवेक पूर्ण आचरण करने के लिए अपवाद मार्गो का उल्लेख किया है।

प्राचीन काल मे श्रमण-संस्था का कष्ट सहन

समय की बहुत विचित्र गति है। अतएव, साधु-साध्वियो के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की मर्यादा वाध दी है। जिससे समय पड़ने पर साधु समाज सघ के साथ अनुमति कर विशेष विधान भी बना सकता है, ऐसा अधिकार भगवान् महावीर ने सघ को दिया है।

यदि ऐतिहासिक शोध एवं खोज की दृष्टि से देखा जाय तो आज २५०० वर्ष पहले के पिछले जमाने मे श्रमण सस्था को किन किन कष्टो का सामना करना पडा होगा, उसकी कल्पना भी नही की जा सकती ।

भयंकर वनान्तरो में होकर साधु श्रमणो को विहार करना पडता था । आवादिया दूर-दूर तथा बहुत थोडी थी । जंगल, पहाड नदी-नाले, रेगिस्तान सब मे से होकर अपनी राह, आप वनानी पडती थी, किन्तु ध्यान रहे, श्रमण, ससार की वाधाओ के वीच अपनी राह स्वयं वनाने के लिए ही तो आया है। लीक-लीक पर चलना महावीर का मार्ग नही था । क्योकि लीक पर ब्राह्मणों की याज्ञिक हिंसा और क्षत्रियो के उद्दण्ड जीवन की गहरी छाप पड़ी थी ।

उस काल मे राज्यो की अराजकता भी साधुओ के लिए अत्यन्त कष्टकारी थी । किसी राजा के मर जाने पर, राज्य सत्ता-प्राप्ति के लिए जो बखेडे खडे होते, उनका विषैला प्रभाव साधुओ पर भी पडता और उन्हे अनेक भाति त्रास दिये जाते ।

उस समय चोर-डाकुओ के गाव के गाँव वसते थे, जिन्हे चौरपल्ली कहा जाता था । चोरों का नेता उनका नेतृत्व करता । ये चोर साधु और साध्वियो को वडा दुख देते थे ।

यदि राजा विधर्मी हुआ तो जैन-साधुओ को बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पडती थी । उन्हे बहुधा गुप्तचर समझ कर पकड लिया जाता था ।

वस्ती के निकट रहने वाले साधुओ को वडी कठिनाइयाँ उठानी पडती थी । उन्हे वहुधा अपने उपाश्रय अथवा स्थानक का पहरा देना पड़ता था । बहुधा दुराचारिणी स्त्रियां अपन भ्रूण उनके निकट छोडकर चली जाती थी । चोर चोरी का माल छोडकर चले जाते थे । सर्प, बिच्छु और कुत्ते आदि से अन्य साथी संतो की निरन्तर रक्षा करनी पड़ती थी ।

दुष्काल की भयकरता का प्रभाव भी बहुत वुरा पडता था । पाटलिपुत्र का दुष्काल कुख्यात है, जवकि भिक्षा के अभाव मे सहस्रो साधुओ को देश छोड़ना पडा था और अनेक आगम ग्रथ नष्ट हो गए थे ।

इस प्रकार के अनेकानेक कष्ट और आतक-विशेष उपस्थित होने पर साधुओ को धर्म एव देह रक्षा के लिए शरीर त्याग करने को भी वाध्य होना पड़ता था ।

आज के शातिमय राष्ट्रीय जीवन में जबकि सामाजिक न्याय और राज्य शासन की समुचित व्यवस्था है। किन्तु उस काल के कष्टो का अनुमान लगाना दुष्कर है, जिनकी जलती ज्वाला मे जीवित निकल कर भगवान् महावीर के सहस्रो अज्ञातनाम साधुओ ने अपने धर्म और कर्त्तव्य का पालन किया था। वे अत्याचारी न रहे, जिन्होने अनेक अराजकत्व काल में हमारे पूर्वज साधुओ को अमानवीय पीडायें दी थी, वे लोग न रहे, जिनके अधर्ममय शासन मे जैन-साधुओ की कष्ट-कहानिया बढ़ गई थी, वे सब न रहे, पर जैनधर्म और जैन साधु आज भी विद्यमान हैं। यह अन्याय और अधर्म पर, न्याय, धर्म और सत्य की जीत का सबूत है।

श्रमण और प्रचार

महावीर का धर्म किसी की जन्मगत, वर्ण-वर्गगत अथवा समाजगत बपौती नही है। यह तो अन्त शुद्धि पर बल देने वाली अत्यन्त वैज्ञानिक विचारधारा है, जो मनुष्य को सहज सरल तरीके से आध्यात्मिक जीवन, और लौकिक पारलौकिक मुक्ति की ओर ले जाती है। अब, यह तो व्यक्ति और समाज की साधना पर निर्भर है, कि वह इस अमृत मे से कितनी बूंदे प्राप्त कर ले।

विचार का जीवन–प्रचार आज भी पहले भी —विचार का जीवन, प्रचार है। विचार धाराये प्रचार-प्रसार के आधार पर जीवित रहती है। भगवान् महावीर के विचारो को प्रचार ने ही अक्षुण्ण रखा है। यद्यपि प्रचार उद्देश्य नहीं हैं, साध्य नही है, पर वह साधन अवश्य है।

विचार-धारा का जितना विस्तार होगा, समाज में उतना ही प्रचार होगा। विचार-विषयक जितनी जानकारी बढेगी, उतनी ही अनुयायी वर्ग की सख्या में वृद्धि होगी, और विचारधारा को भी जीवित रहने के लिए अनुकूल वातावरण मिलेगा। पारस्परिक सौहार्द, सहयोग एव साहस का सचार होगा। महावीर सबसे बडे प्रचारक एव दिव्य सदेश सवाहक थे। उन्होने अपने समस्त साधुओ, श्रावको, साध्वियो और श्राविकाओं को आह्वान किया कि "धर्म प्रचार के पवित्रतम अनुष्ठान मे यथाशक्ति योग देकर आत्मोद्धार एव परोद्धार करो!"

भगवान् महावीर धर्म प्रचारको, समाज व्यवस्थापको और अहिंसा के सेवको को सदैव प्रोत्साहन देते थे। उपासक दशागसूत्र में गोशालक मत के समक्ष आर्हती विचार धारा को विजयिनी बनाने वाले कुण्डकोलिया श्रावक को भगवान महावीर ने "धन्योऽसि कुण्डकोलियाण तुम" कहकर धन्यवाद दिया है।

शख श्रावक, कामदेव तथा आनन्दादि श्रावको का विस्तृत वर्णन, गौतम स्वामी को तपस्वियो के स्वागतार्थ जाने के लिए अनुमति देना व स्कन्धक सन्यासी जो गौतम स्वामी के बाल मित्र थे उन्हे गौतम गणधर को स्वागतार्थ जाने की अनुमति देना महावीर की महानता प्रकट करते है।

केशीकुमार श्रमण का परदेशी को समझाने के लिए जाना, साधुओं का नगर नगर मे घूमना—यह सब व्यवस्थाए प्रचार के लिए ही हुई थी। राजा परदेशी का जीवन और केशीकुमार श्रमण का श्वेताम्बिका जाना प्रचार वृत्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

धर्म के लिए आवश्यक है, प्रचार—प्रचार बिना धर्म कभी ठहर नही सकता। इसलिए भगवान् ने धर्म प्रभावना तथा धर्म प्रद्योत करना सम्यक्त्व के महत्वपूर्ण अग माने है। दीक्षा से पहले भगवान् महावीर को नव-लोकान्तिक देवताओ ने जो प्रार्थना की है, उसमे भी आत्मकल्याण की अपेक्षा "सव्व जग्ग जीव हियं तित्थ, पवत्तेहिं" का उल्लेख आया है, अर्थात् जगत् के हित के लिए तीर्थ की प्रवर्तना करो। (आचाराग सूत्र)

विश्व के उद्धार के लिए ही अहिसक धर्म की स्थापना की गई है। भगवान् महावीर ने उन्हे धन्य पुरुष कहा है, जो सकटो का सामना करके अहिसा तथा आर्हतो की सस्कृति का प्रचार करते है।

महावीर और भारत की तत्कालीन अवस्था

श्रमण परम्परा को अधिक सुव्यवस्थित करने के कारण महावीर के पास एक शान्ति सेना बनाई गई जो सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्र मे क्राति कर सकी।

यही कारण है कि महावीर तत्कालीन बुराइयो के विरुद्ध लड़ सके। यद्यपि उनकी विचारधारा का मोड़ निवृत्ति-गामी था, तथापि विधायक विचार कम महत्वपूर्ण नही थे। उस काल मे यज्ञो मे जो हिसा हो रही थी, उसकी अमानवीयता से समाज और प्रजा काप उठी थी। लेकिन ब्राह्मण एव उच्चवर्ग के सम्मिलित षड्यन्त्र के फलस्वरूप किसी व्यक्ति मे इतनी शक्ति नही थी कि वह उठ खडा होता और असामाजिक, अमानवीय प्रवृत्तियो के सचालको को ललकारता। समाज एक बडा बदीगृह था, जहा वर्णाश्रम और भेद उच्चवर्गो की दया और दान पर निर्भर था। उसे व्यक्तिगत स्वतत्रता नही थी, क्योकि

जाति और सम्प्रदाय के अन्यत्र व्यक्ति का अस्तित्व नही था। ऐसे अधकारमय युग मे प्रकाश की किरण के समान महावीर की महागिरा गुंजित हुई। व्यक्ति-व्यक्ति को अपना मुक्तिदाता मिला। न केवल मनुष्य, वरन् पशुओ ने भी शांति की सास ली। यज्ञ का जो धूमिल धूम्र पशुओ के लहू और मज्जा से गंधित था, अब केवल घी से पूर्ण रहने लगा।

महावीर के साधु, सेवक सेना

ज्ञान, कर्म और पाण्डित्य के दावेदारो के सिर झुक गए—यह ज्ञान पर हृदय की, कर्म पर निष्काम भावना की और पांडित्य पर प्रेम की विजय थी। यह मानवता की वह सर्वोच्च स्थिति थी जो मानव मे तब तक चले आए दानवत्व का अन्त करती थी। याज्ञिक हिसा क्या बद हुई मानो कराल काल के काण्ड का मृत्युगीत बंद हो गया। प्रेम, शान्ति और त्याग का वातावरण मुखरित हुआ।

इसके अतिरिक्त महावीर स्वामी ने तद्युगीन समस्याओ पर विस्तृत रूप से विचार प्रदर्शित किए। यहा तक कि भगवान् ने व्यापार मे सतुलन, सत्य और अमूर्च्छा का श्रावक को व्रत दिया।

साधुओ के द्वारा महावीर स्वामी देश की आध्यात्मिक शिक्षा चाहते थे। सेवको की एक ऐसी सेना चाहते थे जिनके जीवन का धर्म मनुष्य-मात्र को आध्यात्मिक मार्ग पर लाना हो।

अर्थतन्त्र की भावी विजय से महावीर स्वामी परिचित थे। उन्होने अपनी दूर दृष्टि से यह जान लिया था कि मनुष्य धन का दास बनने वाला है और धन से दास बनाने वाला है।

इस रोग से समाज का निदान करने के लिए महावीर ने वर्गहीन अहिसक समाज का विधान दिया। समता तो उन्होने दी ही, साथ ही अपनी स्वल्प आवश्यकता से अधिक रखना भी पाप बतलाया। अपरिग्रह का उपदेश दिया। इसी प्रकार अणुव्रत-व्यवस्था की।

भगवान् महावीर की महाव्रतो की व्यवस्था और जीवन-मुक्ति का उद्देश्य और प्रमाद के प्रति घृणा, प्रमाणित करते है कि वे अकर्म मे कर्म और कर्म अभाव में मुक्ति का उद्देश्य साकार करना चाहते थ।

उन्होने भारतीय जीवन में अहिसा की प्राण प्रतिष्ठा करते हुए

सकल्पात्मक हिंसा त्यागने पर अधिक जोर दिया है। हिंसा जीवन मे होती है, पर हिंसा के कम से कम होने पर अहिंसा की ओर उन्मुख रहना ही भ० महावीर ने श्रावक का आदर्श उद्घोषित किया है। यदि मनुष्य इस प्रकार जीवन व्यतीत करता है तो उसका जीवन उज्ज्वल होता है, और कल्याण के निकट पहुचता है। भगवान् महावीर ने भारत को अशुभ से शुभ की ओर व शुभ से शुद्ध की ओर प्रवृत्त होने का सदेश दिया है।

उनका सदेश वाणी की अपेक्षा कर्म के रूप मे अधिक था। कर्म के आधार पर दिया यह सन्देश समस्त चराचर के कल्याण-निमित्त था।

वे अहिंसा से मैत्री, सत्य से विश्वास और अचौर्य से निष्कपट और ब्रह्मचर्य से तेज ग्रहण कर अपरिग्रह से मनुष्य को परम पुरुषार्थी बनाना चाहते थे।

भारतीय इतिहास के उन चार महापुरुषो मे से, जिन्होने आज की सभ्यता का निर्माण किया और आर्य सस्कृति की प्रतिष्ठा की उनमे, राम कृष्ण, बुद्ध और महावीर है।

उन्होने भोग पर त्याग को विजेता बनाया। मनुष्य कार्य करे, परन्तु उसका उद्देश्य पवित्र हो। सम्यक् ज्ञान के लिए दृष्टि शुद्ध रखकर देखे। संसार का अध्ययन करे। वृत्तियो को शुद्ध करे। जब तक मनुष्य अपना विवेक जगा समार पथ पर चलता रहेगा, तब तक उसके समस्त कर्म सुभाव बनते जाएगे।

यही कारण है कि भारतीय सस्कृति अहिंसामय, पुरुपार्थमय और साहित्य जीवनमय, अथवा जीवन मुक्तिमय बन गया।

लोक भाषा का आश्रय

लोक जीवन पर इस अमृत वाणी का अपार प्रभाव पडा। समाज की उच्छृखल अव्यवस्था का अन्त आया और मनुष्य ने मनुप्य बनकर रहने का सकल्प किया। उसने अच्छा बनने का व्रत लिया।

साहित्य के विविध क्षेत्रो मे मनुष्य-मन की सकाम प्रवृत्तियो को अपना बीज बोने का अवसर न मिला। इससे आध्यात्मिक साहित्य की उन्नति हुई, और जीवन सहज स्वतत्र हुआ और बुद्धि निरामय हुई। भगवान् लोकभापा मे ही लोक-साहित्य-निर्माण देखना चाहते थे। इसी हेतु उन्होने लोकभाषा का आश्रय लिया।

वे चाहते थे कि साहित्य कलात्मक और सुन्दर बनाने वाला हो।

महावीर की परम्परा की रक्षा

भगवान् महावीर ने बुराई और अविवेक के विरुद्ध जो आग सुलगाई थी उसे निरन्तर जलाए रखने वाले और उसकी चिनगारियो को सभालने वाले उन बुराइयो और अविवेक को नष्ट न कर सके अपितु अविवेक उन्हे नष्ट कर गया। जिस जड़वाद, जातिवाद और पूजीवाद के विरुद्ध महावीर उठे थे, वही जैनियो मे घर कर गया।

अव्रती एव अप्रत्याख्यानी का जैनधर्म में स्थान नही था, न है, लेकिन वे ही व्रतभ्रष्ट जाति से जैन कहलाने लगे। आज महावीर-परम्परा की रक्षा करने की सर्वाधिक आवश्यकता उठ खड़ी हुई है। अहिंसा, त्याग, अपरिग्रह और प्रेम के मार्ग से जातीय जीवन विचलित हो गया है। उसे अपने मार्ग और अपनी गति पर लाना है। भगवान् महावीर की परम्परा ही उसे जीवित रख सकती है।

विश्व के नाम महावीर का संदेश

भगवान् ने अहिसा को मुक्ति स्वरूपिणी माना है। प्रेम और अहिसा का उनका दिव्य सन्देश पिछले २५०० वर्षो से विश्व की सत्रस्त मानवता को शाति देता रहा है, लेकिन आज जब देश और विदेश की सीमाए टूट गईं और मनुष्य ने समय और दूरी पर विजय प्राप्त कर ली है, उसकी समस्या और देश की सीमाए बहुत बृहद् रूप ले चुकी है। ससार प्रतिपल संकटापन्न स्थिति से घिरा रहता है, क्योकि भारत जैसे अहिंसक देशो की कमी है, और कतिपय देश युद्ध और हिसा मे ही मानव-जाति का कल्याण देख रहे है।

लेकिन, महावीर का मार्ग अपना कर मानव जाति एक दिव्य शाति को प्राप्त करेगी जो अहिंसा का सम्बल बनेगी, और अहिंसा, सतप्त संसार को अपने शासन में लायेगी। यह शासन आत्मशासन होगा और ऐसे शासन में मनुष्य अपने लिए नही, दूसरो के लिए जिएगा।

तब महावीर का सन्देश—अन्तर्राष्ट्रीय समाज रचना का, विश्व-पार्लियामेंट का, विश्व-साकार का यंत्र, तंत्र और मत्र बनेगा।

और वह दिन दूर नही है, क्योकि मनुष्यता अपनी विषमताओ और विडम्बनाओ मे परित्राण पाने को बद्ध-परिकर हो, खड़ी है।

शिष्य-परम्परा

भगवान् महावीर के सर्वज्येष्ठ शिष्य यद्यपि गणधर इन्द्रभूति थे, मगर भगवान् के निर्वाण के साथ ही वे केवली हो चुके थे, अतएव सर्वप्रथम सघ के आचार्य की उपाधि प्राप्त करने का श्रेय पाचवे गणधर श्री सुधर्मा स्वामी को मिला। इन सुधर्मा स्वामी से ही श्रुत की परम्परा जारी हुई। सौ वर्ष की उम्र मे इन्हे भी निर्वाण प्राप्त हो गया।

सुधर्मा स्वामी के पश्चात् जम्बू स्वामी दूसरे आचार्य हुए। यह अन्तिम केवली हुए। इनके वाद इस क्षेत्र में फिर किसी को मुक्ति प्राप्त नही हुई।

जम्बू स्वामी के पश्चात् तीसरे आचार्य प्रभव स्वामी थे। पहले वह पाच सौ चोरो के सरदार थे। दूसरे दिन प्रभात में मुनि दीक्षा लेने को उद्यत जम्बू कुमार के घर चोरी करने गये। अकस्मात् जम्बू कुमार से साक्षात्कार हो गया और वह भी वैरागी वन कर दीक्षित हो गए। आखिर वही उनके उत्तराधिकारी हुए।

जम्बू स्वामी तक दिगम्वर-श्वेताम्वर-परम्परा का एक रूप है। उनके पश्चात् दोनो परम्पराओ मे भेद हो गया है। श्वेताम्वर परम्परा मे प्रभव, स्वयभव, यशोभद्र, सभूति विजय और भद्रवाहु का उल्लेख है, तो दिगम्वर परम्परा मे, विष्णु, नन्दी, अपराजित, गोवर्धन और भद्रवाहु के नाम मिलते हैं।

प्रतीत होता है, कि जम्बू स्वामी के पश्चात् ही सघ की एकता शिथिल होने लगी थी, फिर भी मतभेद ने उग्र रूप धारण नही किया था। यही कारण है कि दोनो परम्पराए भद्रवाहु स्वामी को श्रुतकेवली स्वीकार करती हैं।

भद्रवाहु स्वामी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु थे। उन्होने वीरनिर्वाण स० १३९ के पश्चात् आचार्य यशोभद्र के पास दीक्षा अगीकार की। दीक्षा के समय उनकी उम्र ५२ वर्ष की थी। इस उम्र मे दीक्षित होकर भी उन्होने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। १४ वर्ष तक अखण्ड वीरसघ के आचार्य रहे। ६६ वर्ष की उम्र मे उनका देहावसान हो गया।

उनके समय की प्रसिद्ध घटना द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष है, जिसके कारण वे दक्षिण मे चले गये। इस दुर्भिक्ष का सघ पर गहरा और स्थायी प्रभाव पडा।

संघ छिन्न-भिन्न हो गया, श्रुति परम्परा से चलने वाले श्रुत का बहुत सा भाग विच्छिन्न हो गया। बड़े-बड़े श्रुतधर, अनेक साधु, काल के गाल मे समा गये।

भद्रबाहु स्वामी ने दश आगमो पर निर्युक्ति रची, ऐसा जैन परम्परा मे प्रसिद्ध है। इसके पश्चात् कोई श्रुतकेवली अर्थात् सम्पूर्ण श्रुतधर नही हुआ, तथापि दोनो परम्पराओ मे अनेक प्रभावशाली, अध्यात्मनिष्ठ, सिद्धान्त के मार्मिक ज्ञाता, संयम परायण और प्रभावक आचार्यो का क्रम चलता रहा है, जिसमे से कुछ का परिचय साहित्य के प्रकरण मे दिया जायगा। शेष आचार्यों के परिचय के लिए ऐतिहासिक ग्रथो का अवलोकन करना चाहिए।

गुणेहि साहू अगुणेऽहि साहू, गिण्हाहि साहू गुणमुञ्चऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो राग दोसेहिं, समो स पुज्जो॥

गुणो से साधु होता है, और अगुणो से असाधु। सद्गुणो को ग्रहण करो, और दुर्गुणो को छोड़ो। जो अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को जानकर राग और द्वेष मे समभाव रखता है, वह पूज्य है।

सद्धं नगरं किच्चा, तव संवर मग्गलं ।
खंति निउण पागारं, तिगुत्तं दुप्पघंसयं ॥

धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं चाईरियं सया ।
धिइंच केयणं किच्चा, सच्चेण परिमंथए ॥

तव नाराय जुत्तेण, भित्तूणं कम्म कंचुयं ।
मुणी विगय संगामो, भवाओ परिमुच्चए ॥

—उत्तराध्ययन, अ० ९, गा० २०-२२ ।

ओ साधक !

श्रद्धा को नगर बनाकर, तप सवर रूप अर्गला, क्षमा रूप कोट, मन वचन तथा काया के क्रमश. बुर्ज, खाई तथा शतघ्नियों की सुरक्षापक्ति से अजेय दुर्ग बनाओ। और पराक्रम के धनुष्य पर, इर्या समिति रूपी प्रत्यचा चढा कर, धृति रूपी मूठ से पकड़, सत्य रूपी चाप द्वारा खीच कर, तप रूपी बाण से, कर्म रूपी कन्चुक कवच को भेदन कर दो, जिससे संग्राम मे पूर्ण विजय प्राप्त कर, मुक्ति के परमधाम को प्राप्त करो ।

मुक्ति-मार्ग

मुक्ति मार्ग

"बुज्झिज्जति तिउट्टिज्जा,
बंधणं परिजाणिया।"

—सूयगडागसुत्त।

जैनधर्म आध्यात्मिक ज्ञान की शक्ति पर पूर्ण विश्वास करता है, जिससे आत्मा अपने बन्धनो को सदा के लिए तोड देता है। और अपनी अनन्त असीम नैसर्गिक शक्तियो का परिपूर्ण विकास करके शाश्वत सिद्धि का लाभ करता है।

महावीर कहते है—"गौतम! जो जानता है, वही बन्धनो को तोडता है। ज्ञान की सार्थकता अन्धकार को दूर करके आलोक को प्राप्त करना है और चारित्र धर्म की आवश्यकता उस आलोक मे दृष्टिगोचर होने वाले दोषो को दूर कर आलोकित स्थान को स्वच्छ एवं पावन बनाना है।"

जैनधर्म के अनुसार, जिससे तत्व का यथार्थ बोध मिलता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है, जिससे तत्वार्थ पर अडिग अडोल विश्वास प्राप्त होता है, उस दृढ प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहा जाता है, और जिस आचारप्रणालिका के द्वारा अन्त करण की वृत्तियो को नियंत्रित किया जाता है, जीवन के अन्तरग और वहिरग को स्वस्थ एव सशुद्ध रक्खा जाता है, ऐसी दोषनिर्नाशिनी पद्धति और गुणविकासिनी पद्धति सम्यक् चारित्र कहलाती है। यही जैनधर्म की

परमपावनी त्रिवेणी है। जिसमे स्नान करने वाला साधक निर्मल, निर्विकार और निष्कलुष बन जाता है।

जीवन शोधन और मुक्ति लाभ के लक्ष्य की उपलब्धि के लिए अग्रसर होने वाले साधक के जीवन मे ज्ञान, आलोक, परमसत्य की श्रद्धा एवं इन दोनों से प्रेरित प्रवृत्ति, व्यवस्थित रूप से कार्य करती है, जो इस त्रिपुटी[1] का अवलम्बन लेता है, वही ससार मे सच्चा आध्यात्मिक यात्री है, मुमुक्षु है और वही अन्त मे चरमसीमा का आत्मविकास प्राप्त कर सकता है।

आर्यावर्त के सभी आस्तिक धर्मों का उद्देश्य अन्तत मुक्तिलाभ[2] करना है, फिर चाहे उसे परमतत्व की उपलब्धि कहा जाय, चरमपुरुषार्थ की प्राप्ति कहा जाय, मुक्ति या सिद्धि कहा जाय अथवा ब्रह्मलाभ आदि कुछ और कहा जाय। जैनधर्म प्रत्येक आत्मा मे ईश्वरीय गुणो की सत्ता को दृढतापूर्वक स्वीकार करता है, और उन गुणो की स्वाभाविक अभिव्यजना को ही मुक्ति या सिद्धि मानता है। सिद्धिलाभ के लिए वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र की त्रिपुटी की अनिवार्यता स्वीकार करता है और स्पष्ट शब्दो मे घोषणा करता है कि ज्ञान विहीन[3] कोई भी कर्मकाण्ड क्रियाकलाप तप, जप, काम-क्लेश, देहदमन आदि जैसे उद्देश्य की सिद्धि नही हो सकती, उसी प्रकार क्रियाहीन ज्ञान से भी लक्ष्य की प्राप्ति नही हो सकती। परमात्मदशा प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग तीनो का जीवन मे समन्वय होना ही है।

वस्तुत ज्ञान और विश्वास का सार शुद्धाचार है। मानव-जीवन मे चारित्र का सर्वाधिक महत्व है। जीवन की ऊचाई उसके कोरे ज्ञान या विश्वास से नही आकी जा सकती। दिव्यता की ओर होने वाली यात्रा का मुख्य माप-दण्ड चारित्र ही है। यही क्यो, दैनिक जीवन व्यवहार में भी हम देखते है कि विश्वास और ज्ञान जब तक मनुष्य के जीवन में साकार नही हो जाते तब तक मनुष्य किसी भी सांसारिक उद्देश्य में सफलता प्राप्त नही कर सकता।

संसार एक अनन्त अविराम प्रवाह है, तो क्या जीव उसमे पाषाणखंड की भाँति बहता लुढकता और टक्करे खाता ही रहेगा? क्या मानव को इस

---

१ तिविधे सम्मे पण्णत्ते, तंजहा, नाण सम्मे, दसण सम्मे चारित्तसम्मे।
—स्थानांग, स्था० ३, उ० ४, सू० १९४

२ निव्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा, —सूत्रकृताग, अ० ६, गा०

३ नाणेन विनान हुंतिचरण गुणा, —उत्तराध्ययन, अ० २८, गा०

ससार मे चलना ही है ? उसकी गति का कही विराम नही है ? कोई आश्रय-स्थल नही, कोई मंजिल नही ? अगर ऐसा हो और मनुष्य की गति की कही और कभी विश्रान्ति न हो, तो फिर मुमुक्षु की साधना का उद्देश्य ही कुछ न होगा। उसका सदाचार, विश्वास और तत्वज्ञान—सब व्यर्थ हो जायेंगे। मगर नही। जैनधर्म का कथन है—"अवश्य आत्मा को कर्मों के बन्धनो से मुक्ति प्राप्त होगी। इस क्षणिक जीवन के बदले शाश्वत जीवन का लाभ होगा और ससार के निस्सार एवं दु.ख व सुख से ऊपर उठकर अवश्य आत्मा को अनन्त सुखमय मुक्ति का दर्शन होगा। आत्मदर्शन एव सहजस्वरूप की उपलब्धि ही सम्यक् चारित्र का वह शुभ फल है, जिसे मनुष्य अपने प्राप्य अन्तिम साध्य तथा लक्ष्य को सुनिश्चित रीति से प्राप्त कर लेता है।

जैनतत्वज्ञान की यह एक सबसे बडी विशेषता है कि वह जीवन को बुझे दीपक की तरह शून्य में परिणत नही करता, किसी विराट् सत्ता में आत्मा का विलीनीकरण करके उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्तहीन बनाकर पाषाण की भाँति जड नही बनाता। जैनधर्म के अनुसार आत्मा की अन्तिम स्थिति अनन्त सुख-सवेदन से परिपूर्ण और असीम ज्ञान के आलोक से सम्पन्न है। उस स्थिति मे आत्मा की दिव्य शक्तियाँ निखर उठती है, और वह परम ज्योतिर्मय स्वरूप को प्राप्त करता है।

उस परमसुखमय मुक्ति का जो राजपथ[1] जैन धर्म ने निर्दिष्ट किया है, वह है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का समन्वय। यह रत्नत्रय ही उस शाश्वत सगीत का आरोह बनता है, जो गायक को सदा के लिए मुक्ति में प्रतिष्ठित कर देता है।

सम्यग्दर्शन

जैनधर्म ज्ञान को साध्य रूप मे स्वीकार नही करता। ज्ञान का फल विज्ञान अर्थात् हेय-उपादेय का विवेक है, और विज्ञान का फल बुराई को छोड-कर अच्छाई को स्वीकार करना है। ज्ञान का उपयोग श्रद्धा की स्वच्छता के लिए है, और श्रद्धा का अटूट बल जीवन शोधन के लिए है। अत ज्ञान की यथार्थता पर जितना बल दिया गया है, उतना ही उसकी सच्ची श्रद्धा पर भी दिया गया है।

---

१ "जीवागच्छन्ति सोग्गई," —उत्तराध्ययन अ० २८, गा० १–३।

आत्मा[1] पर और साथ ही अन्य तथ्य भावो पर—वस्तुजगत पर सजीव श्रद्धा होना ही सम्यग्दर्शन है।

जैनधर्म मे सम्यग्दर्शन[2] को बहुत महत्व दिया गया है। सम्यग्दर्शन के अभाव मे विपुल और सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान भी अज्ञान ही रहता है और उग्र से उग्र अनुष्ठान भी मिथ्यानुष्ठान होता है[3] ज्ञानाभूति के पीछे यदि अटूट विश्वास, जीवित श्रद्धा या दृढ प्रतीति न हुई तो ज्ञान कदापि हितावह नहीं हो सकता।

आत्मा की स्वरूपच्युति का प्रधान कारण सम्यग्दर्शन का अभाव है। श्रद्धा के बिना न तो अपने स्वरूप पर, और न अपने स्वाधिकार की मर्यादा पर, दृढ़ प्रतीति होती है, और न ससार के अनन्त-अनन्त जड-चेतन द्रव्यो के स्वतन्त्र अस्तित्व पर ही विश्वास होता है। उस अविश्वासी और मिथ्यादर्शी आत्मा की यही भावना रहती है कि समूचा ससार मेरे इशारे पर नाचे, मेरी सत्ता स्वीकार करे और मेरे शासन का कोई भी उल्लघन न करे। इस विषावत दृष्टि से आत्मा को ही भ्रम मे नही डाल दिया है, वरन् विश्व की शान्ति का भी विध्वस किया है। दृष्टि की इस विमूढता का कारण तत्व को यथार्थ रूप मे न समझना और उस पर विश्वास न करना ही है।

जगत् मे जो सत् है, उसका कभी विनाश नही होता है, और जो असत् है, उसकी उत्पत्ति नही होती। जितने भी मौलिक द्रव्य इस लोक मे विद्यमान है, वे सब अपने अपने मूल स्वरूप मे स्थिर रहते है। एक द्रव्य दूसरा द्रव्य नही बनता, किन्तु प्रत्येक द्रव्य अपनी अनादिकालीन पर्याय-धारा में प्रवाहित हो रहा है, इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य का रूपान्तर होता है, मगर द्रव्यान्तर नहीं होता।

मूल द्रव्य[4] छह है और तत्व नौ[5] है। अनेकान्त दृष्टि ही इन द्रव्यो या तत्वो को समझने की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है।

---

१ उत्तराध्ययन—अ० २८, गा० १५
२ उत्तराध्ययन—अ० २८, गा० ३०
३ उत्तराध्ययन—अ० २८, गा० २८
४ अनुयोगद्वार सूत्र १४१-१२४।
५ स्थानाग सूत्र, स्था० ९ सूत्र।

वीतराग कथित आगम इन्हे समझने का अभ्रान्त साधन है। इस प्रकार के जीवन्त विश्वास को तत्वश्रद्धा कहते हैं।

तत्वश्रद्धा ही सम्यग्दर्शन[1] है। सम्यग्दर्शन कभी-कभी आन्तरिक शुद्धि से स्वत प्राप्त हो जाता है, और कभी-कभी सत्सगति से, या परोपदेश से प्राप्त होता है। शास्त्र मे इनको क्रमश निसर्गज और अधिगमज सज्ञा प्रदान की गई है।

सम्यग्दर्शन का विरोधी गुण मिथ्यात्व है। जो श्रद्धा विपरीत है, सत्य-विरुद्ध है, वह मिथ्यात्व अथवा मिथ्यादर्शन है। देव, गुरु और धर्म के विषय मे भ्रमपूर्ण या विपरीत धारणा बनाने से मिथ्यात्व की उत्पत्ति होती है। मनुष्य अज्ञानवश यह समझने मे असमर्थ हो जाता है कि आराध्य देव कैसा पावन, पवित्र, सम्पूर्ण ज्ञानमय और सर्वथा निर्विकार होना चाहिए? इस तथ्य को न समझने के कारण वह मिथ्यात्व के चक्कर मे फंस जाता है।

शास्त्र के ठीक अभिप्राय को न समझने के कारण अथवा कुशास्त्र के स्वाध्याय से शास्त्रीय मिथ्यात्व आता है।

यहाँ पर यह बात ध्यान मे रखनी होगी कि बहुत कुछ पाठक की दृष्टि पर शास्त्र का सम्यक्-मिथ्यात्व निर्भर करता है। जिसकी दृष्टि निर्मल है, जो सम्यग्दर्शी है, वह मिथ्याश्रुत को भी अनेकान्त पद्धति से सगत बनाकर सम्यक्-श्रुत[2] के रूप में परिणत कर लेता है। इसके विपरीत, भ्रान्त धारणाओ से ग्रस्त मिथ्यादृष्टि सम्यक्श्रुत को भी विपरीत अभिप्राय ग्रहण कर मिथ्याश्रुत बना डालती है[3]।

असत् गुरु के कारण भी ससार मे मिथ्यात्व फैलता है। मनुष्य गुरु के वास्तविक स्वरूप को समझे बिना ही वेष, चमत्कार, या वाक्कौशल को देखकर किसी को गुरु मान लेता है। इससे वह गुरु के विषय मे मिथ्यात्वी रह जाता है।

मनुष्य धर्म के विषय मे यथार्थ को समझे बिना, परम्परागत धर्म-विरुद्ध रूढियो को धर्म समझ लेता है। वह उसे कुलाचार, या ऐसा ही कुछ नाम देकर मानता है और मिथ्यात्व का शिकार बनता है।

जैनधर्म का आदेश है कि मनुष्य को इस प्रकार विपर्यय से बचकर और दुराग्रह का परित्याग करके देव, गुरु और धर्म के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

---

१. तत्वार्थसूत्र अ० १, सूत्र २। २ नन्दी सूत्र ३. नन्दी सूत्र।

जो आत्मा प्रकृष्ट साधना के द्वारा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग, एवं अनन्तशक्तिशाली वन गया है, जिसने मिथ्यात्व, अज्ञान, मोह आदि अनेक प्रकार के विकारो पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर ली है, जो शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि कर चुका है, वह सच्चा देव है। वही अर्हन्त परमात्मा कहलाता है। अर्हन्त को देव मानने की श्रद्धा, देव के प्रति सच्ची श्रद्धा कहलाती है।

जिस महात्मा के जीवन मे अहिसा की सुगध महकती है, जो अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है, जो पाच महाव्रतो द्वारा मुक्ति की अनवरत साधना करता है, और जो विश्व के समस्त जीवो का कल्याण चाहता है, वह सच्चा गुरु है।

आत्मा को पूर्णता की ओर ले जाने वाला, तथा तत्व का यथार्थ ज्ञान कराने वाला वीतराग कथित श्रुत, एवं मुक्ति प्राप्त कराने वाला चारित्र, धर्म माना गया है[1]।

दयामय धर्म और अनेकान्तमय तत्व ही यथार्थ है। अहिसा ही समग्र सदाचार की कसौटी है। इस प्रकार की दृढ प्रतीति सम्यग्दर्शन का मूल आधार है।

सम्यग्दृष्टि पुरुष के विचार सुलझे हुए होते है। उसमे कदाग्रह तथा मताग्रह नही होता। वह सत्य को सर्वोपरि मानता है और सत्य की ही उपासना करता है। विनम्रभाव से वह सत्य के प्रति समर्पित है। सत्य पर उसकी अविचल आस्था है। दानवी शक्ति भी उसे सत्य से, धर्म या अखण्ड आत्म-विश्वास से विचलित नही कर सकती।

सम्यग्दृष्टि को शुद्ध आत्मस्वरूप की झाकी मिल जाती है। वह अनन्त आत्मिक आनन्द से परिचित हो जाता है। अतएव भौतिक सुख उसे रुचिकर प्रतीति नही होते। वह भोग भोगता हुआ भी उनमे लिप्त नही होता।

सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाये रखने के लिए पाच[2] दोषो से बचना चाहिए :—

१. शंका, वीतराग के वचन पर अविश्वास।
२. काक्षा, परधर्म को अगीकार करने की इच्छा।
३. धर्म के फल मे सदेह करना या सतो के प्रति ग्लानिभाव रखना

---

१. ठाणांग सूत्र, ठाणा २, उ० १, सू० ७२।
२. उपासक दशांग अ० १,

४ मिथ्यादृष्टियो की प्रशसा, और
५. मिथ्यादृष्टियो का घनिष्ठ परिचय ।

मुक्ति की साधना का मूल सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शन से ही आध्यात्मिक विकास आरभ होता है । यह स्वाभाविक है कि जब तक लक्ष्य शुद्ध न हो, और दृष्टि निर्दोष न बन जाय, तब तक मनुष्य की सारी जानकारी और उसके आधार पर किया जाने वाला प्रयास, सफल नही होता । इसी के कारण सम्यग्-दर्शन मुक्ति का प्रथम सोपान माना गया है ।

जब अन्तःकरण मे सम्यग्दर्शन की ज्योति प्रकाशमान होती है तो अनादिकालीन अन्धकार सहसा विलीन हो जाता है, और समग्र तत्व अपने वास्तविक रूप मे उद्भासित होने लगते है । तभी आत्मा के प्रति प्रगाढ रुचि का आविर्भाव होता है, और सासारिक भोग नीरस प्रतीत होने लगते हैं । यह शुद्ध-दृष्टि के लिए मुक्ति का द्वार खोल देती है ।

सम्यग्दृष्टि जीवन मे प्रशम, सवेग, निर्वेद (विरक्ति), अनुकम्पा और आस्तिक्य की पचपुटी भावना आविर्भूत हो जाती है। वह सब प्रकार की मूढ-ताओ से ऊपर उठ जाता है । और शुद्ध मुक्तिमार्ग को पहचान लेता है ।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

जैसे शरीर अपने अगोपागो मे समाहित है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी अपने अगो मे समाहितहै । सम्यग्दर्शन के आठ अग है, और उनका स्वरूप समझने से सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझ मे आ जाता है। उन अगो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ नि शकित[1] वीतराग और सर्वज्ञ परमात्मा के वचन कदापि मिथ्या नही हो सकते । कषाय अथवा अज्ञान के कारण ही मिथ्या भाषण होता है । जो निष्कषाय, वीतराग और सर्वज्ञ होने के कारण पूर्णज्ञानी है, उनके वचन सत्य ही होते है । इस प्रकार वीतराग वचन पर दृढ श्रद्धा होना, नि शकित अंग है ।

२ नि काक्षित —किसी प्रकार के प्रलोभन मे पडकर परमत की अथवा सासारिक सुखो की अभिलाषा करना, काक्षा है । काक्षा न होना, नि काक्षित धर्म है ।

---

१. "निस्संकीय" —उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ३१

३ निर्विचिकित्सा —मनि जन देह मे स्थित होकर भी देह सम्बन्धी वासना से अतीत होते है। अतएव वे देह का सस्कार नही करते। उनके मलिन तन को देखकर ग्लानि न करना एव धर्म के फल मे सन्देह करना, निर्विचिकित्सा अग है।

४ अमूढदृष्टित्व —सम्यग्दृष्टि की प्रत्येक विचारणा और प्रवृत्ति विवेकपूर्ण होती है, उसने अपने जीवन का जो प्रशस्त लक्ष्य नियत कर लिया है, उसकी ओर आगे बढने मे सहायक विचार और व्यवहार को ही वह अपनाता है। किसी का अधानुकरण वह नही करता। सोच विचार कर प्रत्येक कार्य करता है। जिससे सघ को लाभ हो, आत्मा उज्ज्वल हो और दूसरो के समक्ष स्पृहणीय आदर्श खडा हो, ऐसी ही उसकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार अपनी प्रज्ञा को जागृत रखना और प्रमादग्रस्त न होने देना ही अमूढदृष्टित्व अग है।

५. उपबृहण —जो गुणी जन है, विशिष्ट ज्ञानवान्, संयमी, धर्म-प्रभावक, समाजसेवक अथवा सम्यग्दर्शी है, उनकी समुचित सराहना करना, उनके उत्साह की वृद्धि करना, यथाशक्ति सहयोग देना, और उन्हे बढावा देकर अग्रसर करना उपबृहण अग है।

६. स्थिरीकरण —सासारिक कष्टो मे पडकर, प्रलोभन के वशीभूत होकर, या किसी अन्य प्रकार से बाधित होकर जो सम्यग्दृष्टि अपने सम्यक्त्व से च्युत होने वाला है अथवा चारित्र से भ्रष्ट होने जा रहा है, उसका कष्ट निवारण करके या भ्रष्ट होने के निमित्त हटाकर, पुन. उसे स्थिर करना स्थिरीकरण अग है।

७ वात्सल्य —ससार सम्बन्धी नातेदारियो मे साधर्मीपन की नातेदारी सर्वोच्च है। अन्यान्य रिश्ते मोह-वर्धक है, किन्तु साधर्मीपन का सम्बन्ध अप्रशस्त राग को दूर करने वाला और प्रकाश की ओर ले जाने वाला है। ऐसा समझ कर सहधर्मी के प्रति उसी प्रकार आन्तरिक स्नेह रखना, जैसे गाय अपने बछडे पर रखती है, वात्सल्य अग कहलाता है।

८ प्रभावना —जगत मे वीतराग के मार्ग का प्रभाव फैलाना, धर्म सम्बन्धी भ्रम को दूर करना, और धर्म की महत्ता स्थापित करना प्रभावना अग है।

प्रत्येक व्यक्ति मे किसी न किसी प्रकार की विशिष्ट शक्ति विद्यमान रहती है। किसी मे विद्याबल तो किसी मे चारित्रबल, किसी मे त्यागबल,

तो किसी मे तपोबल, किसी मे वाक्शक्ति, तो किसी मे लेखन शक्ति होती है। जिसमे जो शक्ति हो उसी के द्वारा धर्मशासन का प्रभाव बढाना सम्यग्दृष्टि अपना कर्त्तव्य मानता है।

सम्यक्त्व के इन आठ अगो का भलीभाँति पालन करने वाला पुरुष ही सम्यग्दष्टि के पद का अधिकारी होता है।



पुरिसा ! तुममेव तुमं-मित्तं, कि बहिया
मित्तमिच्छसी ? पुरिसा ! अत्ताणमेव
अभिनिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि।

आ० ३।३ . ११७-८

हे पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है। बाहर क्यो मित्र की खोज करता है ? हे पुरुष अपनी आत्मा को वश मे कर। ऐसा करने से तू सर्व दु खो से मुक्त होगा।

न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणु सासणं ।
विसण्ण पाव कम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥

—उत्तराध्ययन, अ० ६, गा० ११ ।

पहावंतं निगिण्हामि सुयरस्सी समाहियं ।
न मे गच्छई उम्मग्गं मग्गं च पडिवज्जई ॥

—उत्तराध्ययन, अ० २, गा० ५६ ।

हे साधक !

नाना प्रकार की भाषाओ का विज्ञान जीव को दुर्गत मे पडने से नही रोक सकता । जो पाप कर्मो मे निमग्न हैं और अपने को पण्डित मानते है ऐसे मूर्ख मनुष्यो को भला विद्याओं का शिक्षण कहाँ तक सरक्षण दे सकेगा ?

हे साधक ! सद्ज्ञान वह है जो भागते हुए मन रूपी घोड़े को ज्ञान रूपी लगाम द्वारा अच्छी प्रकार नियन्त्रित कर ले, इससे साधक तेरा अश्व उन्मार्ग मे नही जा सकेगा, और ठीक मार्ग को ग्रहण कर सकेगा ।

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्ज्ञान

१. स्वरूप :—जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान चैतन्यस्वरूप है। वह आत्मा का स्वाभाविक गुण है और इसलिए आत्मा से अभिन्न है। यद्यपि आत्मा और ज्ञान मे गुणी-गुण संबध है, तथापि गुणी और गुण मे जैन-दर्शन भेद नही मानता। अतएव आत्मा ज्ञानमय है। उस मे अनन्त ज्ञानशक्ति स्वभाव से ही विद्यमान है, किन्तु ज्ञानावरण कर्म से आच्छादित होने के कारण ज्ञान का पूर्ण प्रकाश नही होता। ज्यो-ज्यो आवरण हटता जाता है, ज्ञान प्रकाश बढता जाता है। जब आवरण पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है तो आत्मा का सर्वज्ञ रूप प्रकट हो जाता है।

कोई भी ज्ञान नेत्र की भाति केवल परप्रकाशक नही होता, और न स्वप्रकाशक ही[1]। जैनधर्म ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिपुटी मे एकान्तत: पार्थक्य स्वीकार नही करता। आत्मा ज्ञाता तो है ही, अपने ज्ञान गुण से अभिन्न होने के कारण ज्ञान रूप भी है, और स्वय प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण ज्ञेय भी है। इसी प्रकार ज्ञान वस्तु के बोध में कारण होने से ज्ञान है, और स्वप्रकाश्य होने से ज्ञेय भी है, और कर्तृत्व की विवक्षा से ज्ञान भी है।

---

१ "स्व पर प्रकाशकं ज्ञानम्", (जैनन्याय तर्क संग्रह)

२. ज्ञान की यथार्थता और अयथार्थता :—यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान और अयथार्थ बोध मिथ्याज्ञान कहलाता है[१]। यथार्थता और अयथार्थता से क्या अभिप्राय है? इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दिया जा सकता है-लौकिक अर्थात् दार्शनिक दृष्टिकोण से, और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से।

जिस ज्ञान मे सशय, विपर्यास अनध्यवसाय न हो, वह ज्ञान दार्शनिक दृष्टिकोण से यथार्थ माना जाता है[२]। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वही ज्ञान यथार्थ हो सकता है जिस के पीछे मिथ्यात्व न हो। मिथ्यात्व या मिथ्या-दर्शन, ज्ञान को मिथ्या बना देता है। जिस आत्मा मे सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति हो चुकी है, जिसकी दृष्टि शुद्ध हो चुकी है, उसका ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यग्ज्ञान है।

इसके विपरीत जो ज्ञान सशय आदि समारोपो से युक्त है, अर्थात् जो संशययुक्त है, सर्प को रस्सी समझने के समान विपरीत बोध रूप है या अनिर्णा-यक है, वह दार्शनिक दृष्टिकोण से अयथार्थ है, और जिस ज्ञान के पीछे मिथ्यात्व है, दुराग्रह है, दुरभिनिवेश है, आध्यात्मिक जागृति नही है, और लक्ष्य की पवित्रता नही, वह आध्यात्मिक दृष्टि से अयथार्थ है।

३. ज्ञान के भेद :—ज्ञान सामान्य रूप से एक है, फिर भी उसे विविध प्रकार से भेद-प्रभेद करके समझाने का प्रयत्न किया गया है। ज्ञान की तरतम अवस्थाओ, कारणो एवं विषय आदि के आधार पर यह भेद-प्रभेद किये गये है।

मूलत ज्ञान पाच प्रकार का है —

१. मतिज्ञान
२. श्रुतज्ञान
३. अवधिज्ञान
४. मन पर्यवज्ञान
५ केवलज्ञान[३]

४. ज्ञान की प्रत्यक्ष परोक्षता —इन पाच ज्ञानो मे से पहले के दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष है, और अन्तिम तीन ज्ञान प्रत्यक्ष है। इतर भारतीय दर्शन साधारणतया इन्द्रियो द्वारा होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते है।

१.—२. द्रव्य संग्रह।
२. स्थानांग, सूत्र, स्थान २, उ० १, सूत्र ७१।
३. नन्दी सत्र

नेत्रो मे रूप को देखना, नासिका से गध का ज्ञान होना, जिह्वा से रस का, त्वचा से शीतोष्ण आदि स्पर्शों का, और कान से शब्द का ज्ञान होना, उनके मन्तव्य के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान है। किन्तु जैनदर्शन इन्द्रिय-मनोजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नही मानता। जैनदर्शन के अनुसार वास्तव में प्रत्यक्ष ज्ञान वह है, जो इन्द्रियो और मन की सहायता की अपेक्षा न रख कर साक्षात् आत्मा से ही होता है। हा, लोक व्यवहार के अनुरोध से इन्द्रियजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहा जा सकता है, किन्तु वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही है, पारमार्थिक नही।

५ **मतिज्ञान के भेद** —मतिज्ञान कारणभेद से दो प्रकार का है–इन्द्रियजन्य और मनोजन्य।[1] चक्षु आदि इन्द्रियो से होने वाला ज्ञान इन्द्रियजन्य कहलाता है और मन से होने वाला मनोजन्य। मन आन्तरिक कारण है और रूप आदि किसी एक ही विषय आदि को ग्रहण नही करता, इस कारण उसे अनिन्द्रिय कहते है। मतिज्ञान सामान्यरूप से एक होने पर भी विषय-भेद से पांच प्रकार का माना गया है[2]।

१ मति, २ स्मृति, ३ सज्ञा, ४ चिन्ता, ५ अभिनिबोध।

मति—वह ज्ञान है, जो इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हो, तथा वर्तमान-विषयक हो।

स्मृति—पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण करना। पूर्वजन्मो का स्मरण इसी के अन्तर्गत है।

संज्ञा—पूर्वानुभूत और वर्तमान मे अनुभव की जाने वाली वस्तु मे एकत्व या सादृश्य का अनुसधान करना। इसका दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान भी है।

चिन्ता—भविष्य की विचारणा।

अभिनिबोध—अनुमान।

६ **ज्ञान का क्रम विकास**—चेतना जीव का ज्ञानरूप गुण है, और मूल मे वह एक है। कही विषय के आधार पर और कही कारणो के आधार पर, अनेक भेद-प्रभेद करके उसकी मीमासा की गई है। ज्ञान उत्पन्न होता है तो पहले पहल इतना सामान्य होता है कि वह वस्तु के विशेष धर्मों को नही

---

१ स्थानांगसूत्र स्थान २ उ० १, सू० ७१।

२ नन्दी सूत्र, मतिज्ञान, गा० ८०, तत्त्वार्थसूत्र, १—१३।

जान सकता। वह सत्ता मात्र का ग्राहक होता है, जिसकी सत्ता को वह ग्रहण करता है, उसके नाम, गुण, क्रिया, जाति आदि विशेष धर्मों के जानने मे असमर्थ होता है। उपयोग की यह प्राथमिक अवस्था दर्शन कहलाती है[1]। दर्शन के पश्चात् उपयोग की धारा अग्रसर होती है। उस समय भी अनेक अवस्थाए होती है। उन सूक्ष्म अवस्थाओं का भी जैन-शास्त्रो में दिग्दर्शन कराया गया है। पर यहा अधिक विस्तार मे न जाकर चार स्थूल अवस्थाओ का ही वर्णन कर देना पर्याप्त होगा वे चार अवस्थाएँ ये है :—

१. अवग्रह २. ईहा ३. अवाय और ४ धारणा[2]

दर्शन मे सत्ता नामक महासामान्य (परसामान्य) का बोध हो पाया था, 'कुछ है,' इतनी-सी प्रतीति हुई थी। उसके अनन्तर जब उपयोग ने अपरसामान्य (मनुष्यत्व आदि अवान्तर सामान्य) को ग्रहण किया और 'यह मनुष्य है,' ऐसी प्रतीति हुई तो वह उपयोग अवग्रह कहलाया। अपर-सामान्य को जान लेने के बाद उपयोग का झुकाव विशेष की ओर होता है। वह झुकाव ईहा कहलाता है। ईहा विशेष की विचारणा है। इस विचारणा के पश्चात् जब ज्ञान विशेष का निश्चय करने मे समर्थ हो जाता है तो वह अवाय या अपाय कहलाता है।

अवाय के पश्चात् धारणाज्ञान होता है। उसके तीन रूप है —अवि-च्युति, वासना और स्मृति। इनके उत्पन्न होने के पश्चात् अवाय ज्ञान जितने काल तक स्थिर रहता है, अर्थात् उपयोग पलटता नही है, वह अविच्युति कहलाता है। उपयोग पलट जाने पर पूर्ववर्ती ज्ञान संस्कार का रूप ग्रहण करता है तो वासना कहलाता है। कालान्तर मे कोई निमित्त पाकर वासना का पुन. जागृत हो जाना स्मृति है।

इस प्रकार एक ही ज्ञान की धारा क्रम से विकसित होती हुई अनेक नामो से अभिहित होती है। विकास-क्रम के आधार पर ही उसके पूर्वोक्त चार भेद किये गये है।

ये चारो ज्ञान पांच इन्द्रियो से तथा मन से होते है। इस प्रकार कारण

---

१ द्रव्यसंग्रह, गा० ४३।

२. नदीसूत्र २७, तत्त्वार्थसूत्र, १–१५

के आधार पर अवग्रह आदि चारो के छह-छह भेद होते हैं और सब मिलकर चौवीस भेद हो जाते हैं।[1]

यहां एक स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। मन और पाच इन्द्रियाँ ये ज्ञान के छह साधन दो वर्गो मे विभक्त हैं, पहले वर्ग मे चक्षु और मन को छोड कर शेप चार इन्द्रियाँ सम्मिलित हैं, जो अपने अपने विपय का स्पर्श करके उसे जानती है। दूसरे वर्ग मे मन और चक्षु-इन्द्रिय है, जो अपने विषय को स्पर्श किये विना, दूर से ही जानती हैं।

इस भेद के कारण ज्ञान के क्रम मे भी भिन्नता होती है। उस क्रमभेद को मन्दक्रम और पटुक्रम कहते हैं। मन और नेत्र पटुक्रम वाले, और चार इन्द्रियां मन्दक्रम वाली हैं। स्पर्शेन्द्रिय के साथ जब तक वायु का स्पर्श न हो, वह वायु को नही जान सकता। जिह्वा के साथ पदार्थ का सयोग होने पर ही रस का ज्ञान होता है। इसी प्रकार गध के पुद्गलो का नासिका के साथ और भाषाद्रव्यो का कर्णेन्द्रिय के साथ स्पर्श होना अनिवार्य है। तभी उनका ज्ञान होता है।

इन्द्रिय और विषय का यह सवध व्यंजन कहलाता है। अवग्रह ज्ञान का कारण होने से चार प्रकार का यह व्यजन भी अवग्रह ही कहलाता है। पूर्वोक्त चौवीस भेदो मे इन चार भेदो को सम्मिलित कर दिया जाय तो मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद होते हैं।

७ **श्रुत ज्ञान** —सामान्यत श्रुत का अर्थ है–'सुना हुआ'। वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द को सुनकर श्रोता को वाच्य–वाचकभाव सवध की सहायता से जो शब्दवोध होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि श्रुतज्ञान से पहले मतिज्ञान का होना अनिवार्य है। ज्ञान के द्वारा श्रोता को शब्दो का जो ज्ञान होता है, वह मतिज्ञान है। तदनन्तर उस शब्द के द्वारा शब्द के वाक्य पदार्थ का ज्ञान होना श्रुतज्ञान है।

८ **मति-श्रुत का अन्तर** –इस प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मे कार्य-कारण का सवध है। मतिज्ञान कारण और श्रुतज्ञान कार्य है। मतिज्ञान के अभाव मे श्रुतज्ञान उत्पन्न नही होता। यद्यपि दोनो ज्ञान साथी हैं, परोक्ष हैं, तथापि उनमे भिन्नता है। मतिज्ञान मूक और श्रुतज्ञान मुखर है। मतिज्ञान

---

१. स्थानागसूत्र, स्थानांग ६, तत्त्वार्थसूत्र १।१६।

प्राय वर्तमान विषय का ग्राहक है, जब कि श्रुतज्ञान त्रिकाल विषयक होता है। उदाहरण की भाषा मे यह कहा जा सकता है कि मतिज्ञान यदि दूध है, तो श्रुतज्ञान खीर है। मतिज्ञान सण है तो, श्रुतज्ञान उसमे वनी रस्सी है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय-मनोजन्य दीर्घकालीन ज्ञानधारा का प्राथमिक अपरिपक्व अश मतिज्ञान है, और उत्तरकालीन परिपक्व अश श्रुत ज्ञान है[1]। श्रुतज्ञान अगर अपनी पूर्ण मात्रा मे प्राप्त हो जाता है तो मनुष्य श्रुतकेवली कहलाता है।

श्रुत ज्ञान के मूल दो भेद है[2] द्रव्यश्रुत और भाव श्रुत। भाव श्रुत ज्ञानात्मक है और द्रव्य श्रुत शब्दात्मक। द्रव्यश्रुत ही आगम कहलाता है।

९. **श्रुत का प्रामाण्य**—धर्म के क्षेत्र में आगम की सर्वाधिक महत्ता है। धर्म का धुरा आगम के इर्दगिर्द घूमा करता है। धार्मिक व्यक्ति की दृष्टि क्रिया, सभ्यता और सस्कृति आगम से अनुप्राणित होती है। अनेक भारतीय दर्शनो की भाति जैनधर्म भी आगम का प्रामाण्य अगीकार करता है; किन्तु उसके प्रामाण्य की उसने एक विशिष्ट कसौटी अगीकार की है।

जैनधर्म आगम को अपौरुषेय, अनादिनिधन अथवा ईश्वर द्वारा प्रेषित मान कर छुट्टी नही पा लेता। उसका कथन है कि अपौरुषेय या अनादि आगम असभव है। अतएव वीतराग पुरुष द्वारा प्रणीत आगम ही विश्वसनीय एव प्रमाणभूत हो सकता है। जैनजगत् के दो महान् दार्शनिक सिद्धसेन और समन्तभद्र ने स्वर मे स्वर मिला कर लिखा है—"जो आप्त द्वारा कथित हो, तर्क द्वारा उल्लघनीय न हो, जिसमे प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से बाधा न आती हो, वही सच्चा शास्त्र या आगम है।"[3]

यहा पहले ही विशेषण द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अपौरुषेय होने के कारण नही, वरन् आप्त पुरुष द्वारा प्रमाणित होने के कारण ही आगम को प्रामाणिक माना जाता है, कौन सा आगम आप्तप्रणीत है और कौन सा नही? यह निर्णय करने के लिए शेष विशेषण प्रयुक्त किये गये है।

जैनधर्म के अनुसार अनेकान्त दृष्टि के प्रवर्तक, अखण्ड सत्य के द्रष्टा, केवल ज्ञानी तीर्थङ्कर देव ने समस्त जगत के जीवो की करुणा के लिए प्रवचन-

---

१ "मई पुव्वं जेण सुअ न मई सुअ पुव्विआ", नन्दिसूत्र २४।

२ स्थानांग सूत्र, स्था० २।

३ स्थानांग, स्था० २-७१

प्रसूनो की वृष्टि की है । तीर्थङ्कर के प्रधान शिष्य गणधर देव अपने बुद्धिपट मे उन कुसुमो को झेलते है और प्रवचन-माला गूँथते है । यह प्रवचनमाला जैन परम्परा मे आगम-प्रमाण के रूप मे स्वीकार की गई है ।

जब तर्क थक जाता है, लक्ष्य अस्थिर होकर डगमगाने लगता है और चित्त मे चचलता उत्पन्न हो जाती है, तो आप्तप्रणीत आगम ही मुमुक्षु जनो का एकमात्र आधार बनता है । यह आगम ही द्रव्यश्रुत कहलाता है और द्रव्यश्रुत के सहारे उत्पन्न होने वाला ज्ञान भावश्रुत कहलाता है ।

१०. **भेद**—कर्तृ भेद से आगम दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है । अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य । जिस श्रुत का साक्षात् तीर्थङ्कर भगवान् ने उपदेश दिया और जिसे अगाध मेधा एव बुद्धि के धारक गणधरो ने शब्द-बद्ध किया, वह अंगप्रविष्ट कहलाता है । अगप्रविष्ट का शब्दार्थ है–'अगो मे अन्तर्गत" अक्षर-पुरुष के बारह अग है, जिनके नाम ये है —

१ आचारांग २. सूत्रकृत् ३ स्थान ४ समवाय ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति ६. ज्ञातृधर्मकथा ७ उपासकदशा ८. अन्तकृद्दशा ९. अनुत्तरौपपातिक १०. प्रश्नव्याकरण ११ विपाक १२ दृष्टिवाद ।[1]

यह बारह अग समस्त जैनवाङ्मय के मूलाधार है । इन्हे 'गणिपिटक' कहा गया है । इन अगसूत्रो के आधार पर, इनसे अविरुद्ध विभिन्न स्थविरो एवं आचार्यों द्वारा रचित आगम अगबाह्य कहलाता है । अंगबाह्य आगमो की सख्या निर्धारित नही की जा सकती; मगर उनकी प्रामाणिकता का आधार अग शास्त्र ही है ।

जैनाचार्यो ने विपुल श्रुत की रचना की है । बारह उपागसूत्र, चार मूलसूत्र, चार छेदसूत्र, और आवश्यक सूत्र आदि आगम तो है ही, इनकी व्याख्या के रूप मे भी चूर्णि, निर्युक्ति और टीका आदि का प्रणयन किया गया है, जिसका बहुत बडा परिमाण है ।

इसके अतिरिक्त भी बहुसख्यक जैनाचार्यो ने आध्यात्मिक, और दार्शनिक साहित्य का स्वतत्र ग्रथो के रूप मे निर्माण किया है और आगम प्ररूपित सक्षिप्त तत्त्व का हृदयग्राही तर्कसगत और विशद विवेचन किया है । जैनाचार्यो

---

१ नन्दीसूत्र ४४ ।

की वहुत-सी रचनाएँ न केवल भारतीय साहित्य, अपितु विश्व साहित्य के विशाल भंडार की अनमोल मणियाँ है।

११ जैनाचार्यो की साहित्य-सेवा—प्रसगवश यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि जैनाचार्यो ने साहित्य के किसी भी तत्कालीन प्रचलित अग को अछूता नही छोडा है। अध्यात्म, नीति और दर्शन तो उनके प्रधान और प्रिय विषय रहे ही है, व्याकरण, काव्य, कोप, अलकार, छद, वैद्यक, ज्योतिप, मंत्र, राजनीति, इतिहास आदि-आदि सभी विषयो पर उन्होने अपनी कलम चलाई, और भारतीय साहित्य को विपुलता, नूतनता एव दिव्यता प्रदान की।

लोक-भापाओ को साहित्यिक रूप मे उपस्थित करने की मूल कल्पना जैनाचार्यो की ही देन है। दक्षिण मे भी कर्णाटक भापा के प्राचीन साहित्य मे से जैनाचार्यो की कृतिया पृथक कर दी जाए, तो उसमे कुछ शेप नही रह जाता। इस प्रकार भारत की प्राकृत, सस्कृत तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ की समृद्धि मे जैनो का वहुत वडा भाग है।

अवधिज्ञान—अभी तक जिस मति और श्रुत-ज्ञान का निरूपण किया गया है, वह परोक्ष ज्ञान था, क्योकि उसकी उत्पत्ति इन्द्रियो और मन पर अवलम्बित थी, यह दोनो ज्ञान न्यूनाधिक मात्रा मे सभी ससारी जीवो को होते ही है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक कोई जीव ऐसा नहीं, जिसे यह प्राप्त न हो। यह बात दूसरी है कि सम्यग्दृष्टि के वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्या-दृष्टि के मिथ्याज्ञान होते है, मगर सामान्य रूप से वह होते अवश्य है।

अब जिन प्रत्यक्ष ज्ञानो का स्वरूप दिखलाना है, वे ऐसे नही। जहाँ तक मनुष्यो और तीर्थङ्करो का सम्बन्ध है, उन्हे अवधिज्ञान साधना के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वह साधना मौजूदा जन्म की भी हो सकती है, और पूर्व-जन्म की भी। आत्मा पुन पुन जन्म-मरण कर रहा है। वह जब नवीन जन्म लेता है, तो कोरा नही जन्मता, वरन् अपने पूर्वजन्मो के भले-बुरे सस्कारो से अनुप्राणित भी होता है। अतएव जिस आत्मा ने पूर्व जन्म मे साधना की है, वह उसके फलस्वरूप वर्तमान जन्म मे अवधिज्ञान प्राप्त कर लेता है।

अवधि का अर्थ है 'सीमा' या 'मर्यादा'। जब आत्मा इन्द्रिय और मन की सहायता के विना ही, साक्षात् आत्मिक शक्ति के द्वारा रूपी पदार्थो को,

मर्यादित रूप में जानने लगता है, तब उसका वह ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है।

मानव जाति ईर्षा कर सकती है कि देवयोनि और नरकयोनि के जीवो को जन्म से ही अवधिज्ञान प्राप्त रहता है [1]। मगर नरक योनि के जीवो के लिए वह अधिक दुःख का ही कारण बनता है।

मन पर्यायज्ञान —मन पर्याय ज्ञान विशिष्ट साधक को ही प्राप्त होता है [2]। जिसने सयम की उत्कृष्टता प्राप्त की है, जिसका अन्त करण अत्यन्त निर्मल हो चुका है, वही उस ज्ञान का अधिकारी होता है। इस ज्ञान के द्वारा किसी भी समनस्क प्राणी की चित्तवृत्तियो को, मनोभावो को जाना जा सकता है।

सयम की उत्कृष्ट साधना मनुष्य योनि मे ही होती है, अतएव यह ज्ञान मनुष्य को ही हो सकता है।

अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञान-दोनो ही यद्यपि अपूर्ण है, तथापि वह असाधारण है, उनकी एक वडी विशेपता यही है कि उनकी उत्पत्ति न इन्द्रियो से होती है, न मन से। आत्मिक चैतन्यशक्ति ही उनके प्रादुर्भाव का कारण है। (आधुनिक वैज्ञानिक जिसे (Clairvoyance) कहते हैं, उसके साथ कथचित् अवधिज्ञान की तुलना की जा सकती है। मन पर्याय ज्ञान टैलीपैथी या (Mind Reading) से मिलता-जुलता है।)

केवल ज्ञान [3]–जैनधर्म ज्ञान की पराकाष्ठा को अनन्त और असीम मानता है। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान या केवलज्ञान, ज्ञान की उसी पराकाष्ठा के बोधक है।

जिस ज्ञान से त्रिलोकवर्ती और त्रिकालवर्ती समस्त वस्तुए एक साथ जानी जा सकती हैं, वह सर्वोत्तम ज्ञान, केवल ज्ञान कहलाता है। इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और परम चिन्मय वन जाता है। मनुष्य की साधना का यह अन्तिम फल है। इस फल की प्राप्ति होने पर आत्मा जीवन-मुक्त हो जाता है, और पूर्ण सिद्ध के सन्निकट पहुँच जाता है।

---

१ नन्दी सूत्र ७।

२. स्थानांग सूत्र० स्था० २, उद्देशा० १, सू० ७१।

३ स्थानांग सू० स्थान ५, उद्देशा ३, सू० ४६३।

विषय अथवा कारण के आधार पर अन्यान्य ज्ञानो के अनेक भेद-प्रभेद होते है, किन्तु केवलज्ञान मे कोई भेद संभव नही, क्योकि यह परिपूर्ण ज्ञान है, और पूर्णता मे किसी प्रकार की भिन्नता नही होती। उक्त पाँच ज्ञानो मे से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, मिथ्यात्व के ससर्ग से मिथ्याज्ञान भी हो सकते है। किन्तु मन पर्यव, और केवलज्ञान मिथ्यादृष्टि को प्राप्त नही होते। अतएव वे सम्यग्ज्ञान ही होते है।

विश्व का विश्लेषण

द्रव्य व्यवस्था

१ **द्रव्य मीमांसा का उद्देश्य**—द्रव्य अथवा तत्त्व का वोध जीवन की प्रक्रिया का मूलभूत अग है। श्रमण सस्कृति के तत्त्व निरूपण का उद्देश्य जिज्ञासा-पूर्ति नही, चारित्र-लाभ है। इस ज्ञानधारा का उपयोग, साधक आत्मविशुद्धि के लिए और प्रतिवन्धक तत्त्वो के उच्छेद के लिए करता है।

जैन धर्म वैज्ञानिक धर्म है। उसका साहित्य निगूढ वैज्ञानिक मीमासा प्रस्तुत करता है। द्रव्य व्यवस्था जैन विज्ञान का विलक्षण आविष्कार है। आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधान जैन विज्ञान के अकाट्य तथ्यो पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगाता जा रहा है। जैन तत्त्वज्ञान और आधुनिक विज्ञान की समताएँ अनेक वार विद्वानो का विस्मय का विषय वन जाती है। भौतिक साधनो के सहारे तत्त्वअन्वेषण करने वाले वैज्ञानिको से आत्मज्ञानी महात्मा कहीं आगे भी वढ़ गये, यही तो आत्म-साक्षात्कार करने वाले दिव्य द्रष्टाओ का चमत्कार है।

किन्तु जहाँ दोनो के तत्त्वनिरूपण मे वहुत कुछ साम्य है, वही से दोनो के उद्देश्य में वहुत वडा वैपम्य भी है। जैन धर्म के अनुसार तत्त्वज्ञान मुक्तिलाभ का एक अनिवार्य साधन है, जव कि विज्ञान का लक्ष्य विज्ञान ही है।

प्रत्येक विचार स्याद्वाद से परिमार्जित हो, और प्रत्येक आचार अहिसा से परिपूर्त हो तो साधक के मुक्तिलाभ मे कुछ विलम्व नही रहता, इसी कारण चारित्र से भी पूर्व तवत्त्ज्ञान को स्थान दिया गया है।

२. **द्रव्य क्या है?**[१] 'द्रव्य', शव्द 'द्रव' धातु से निष्पन्न है। जिसका अर्थ

---

१ गुणपर्यायवद् द्रव्यम्, तत्त्वार्थ सूत्र० अ० ५, सू ३८, उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ६।

है कि द्रवित होना, प्रवाहित होना। ससार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, समय पाकर नष्ट होते हैं, फिर भी उनका प्रवाह सतत गति से चलता ही रहता है। इस प्रकार तत्त्व के तीन स्वरूप निश्चित होते है—उत्पन्न होना, नष्ट होना, ध्रुव बना रहना।

कुम्भकार खेत में से मिट्टी लाता है, और घडा बनाता है। तब घडे की उत्पत्ति होती है और मृत्तिका का नाश हो जाता है। मृत्तिका और घट, दोनो अवस्थाओ मे विद्यमान सामान्य तत्त्व ध्रौव्य है।

तात्पर्य यह है कि प्रजनन और विनाश की अविरत गतिशील धारा मे भी पदार्थ का मूल स्थायी रहता है। इसी ज्ञान को भगवान् महावीर ने मातृका त्रिपदी [1] कहा है। इन तीन अशो का समन्वय होना ही सत् [2] का लक्षण है। इस असीम और अनन्त विश्व का कण-कण तीनो अशो से समन्वित है, जिसमे यह तीनो अश नहो, ऐसी किसी वस्तु की सत्ता सभव नही है।

३ **विश्व का मूल** —तात्त्विक एव मौलिक दृष्टि से विश्व का विश्लेपण किया जाय तो दो तत्त्व या द्रव्य उपलब्ध होते है [3], चेतन और जड़। कतिपय दार्शनिक जगत् के मूल मे एक मात्र चैतन्यमय तत्त्व की सत्ता अगीकार करते हैं तो दूसरे एक मात्र जड तत्त्व की। मगर जैनधर्म न अद्वैतवादी है, और न अनात्म-वादी। अतएव वह दोनो तत्त्वो के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है। जड़ तत्त्व मे इतनी विविधता और व्यापकता है कि उसे समझने के लिए थोड़े पृथक्करण की आवश्यकता होती है। अतएव उसके पाच विभाग कर दिये गये हैं। जीव के साथ उन पाच प्रकार के अजीवो की गणना करने से सत् पदार्थो की सख्या छह स्थिर होती है। वे यह हैं :—

१. जीव, २ पुद्गल, ३ धर्मास्तिकाय, ४. अधर्मास्तिकाय, ५. आकाश, ६. काल।

सत् का दूसरा नाम द्रव्य है। यह समग्र चराचर लोक इन्ही षट्द्रव्यो का प्रपच है। इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। द्रव्य नित्य है, अतएव

---

१ माउयाणुयोगे, उपन्ने वा, विगये वाधुवे वा, स्थानाम, स्था० १०,

२ सद्दव्वं वा, व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ८, उ० ९।

३. जीवदव्वा य, अजीव दव्वा य, अनुयोग, सू०, १४१

लोक भी नित्य है। उसका किसी भी भौतिक लोकोत्तर शक्ति द्वारा निर्माण नही किया गया है। अनेक कारणो से समय-समय पर उसमें परिवर्तन हुआ करते है, परन्तु मूल द्रव्यो का न नाश होता है और न उत्पाद ही। इसी कारण जैन-धर्म अनेक मुक्तात्मा (ईश्वरो) की सत्ता स्वीकार करता हुआ भी उन्हे सृष्टिकर्ता नही मानता।

जीव, पुद्गल आदि को द्रव्य कहने का कारण, उनका विविध परिणामो से द्रवित होना है। परिणाम या पर्याय के बिना द्रव्य नही रहता और बिना द्रव्य के पदार्थ का अस्तित्व नही होता।

४ पृथक्करण—हम जिसे वस्तु कहते है, उसमे तीन अश विद्यमान होते है—द्रव्य, गुण और पर्याय [1]। वस्तु का नित्य अश द्रव्य है, सहभावी अश गुण है, और क्रमभावी अश पर्याय है। एक उदाहरण द्वारा इन तीनो का स्वरूप समझे—जीव द्रव्य है, उसका सदा विद्यमान रहने वाला ज्ञान चैतन्य-गुण है और मनुष्य पशु, कीट, पतग आदि दशाये पर्याय है। यह तीनो अंग सदैव परस्पर अनुस्यूत रहते है, और वस्तु कहलाते है।

सक्षेप में द्रव्य वह है जो गुण और पर्याय से युक्त हो, अथवा जो उत्पाद और विनाश से युक्त होकर भी अपने मूल स्वभाव का त्याग न करने के कारण ध्रुव हो।

वस्तुओ मे पाई जाने वाली भिन्नता दो प्रकार की होती है—'अन्यत्वरूप' और 'पृथक्त्व रूप'। दूध और दही की भिन्नता अन्यत्व रूप और कागज तथा कलम की भिन्नता पृथक्त्व रूप है। दूध और दही के पर्याय मे अन्तर है, मगर मूल द्रव्य-प्रदेशो मे नही, जब कि कागज और कलम के प्रदेश मूलतः पृथक्-पृथक् है। मनुष्य बालक है, युवा है, वृद्ध है। इन दशाओ में अन्यत्व तो है, किन्तु पृथक्त्व नही, क्योकि इन तीन अवस्थाओ मे मूलगत मनुष्य एक ही है।

द्रव्य, गुण और पर्याय मे भी पृथक्त्व रूप भिन्नता नही है। द्रव्य की वह अनादिनिधन शक्तियाँ, जो द्रव्य में व्याप्त होकर वर्तमान रहती है, गुण कहलाती है, और उत्पन्न-विनष्ट होने वाले विविध परिणाम 'पर्याय' कहलाते है। इन दोनो का समूह द्रव्य कहलाता है।

---

१. उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ६।

उक्त छह द्रव्यो में से काल के अतिरिक्त पाच द्रव्य अस्तिकाय[1] कहलाते है, क्योकि वे अनेक प्रदेशो के पिण्डरूप है। काल द्रव्य प्रदेश-प्रचय रूप न होने के कारण अस्तिकाय नही कहलाता।

जीव द्रव्य चेतन और, शेष अचेतन है। पुद्गल द्रव्य मूर्त[2] रूप, रस, गध, स्पर्श वाला है और शेष पाच अमूर्त है। जीव और पुद्गल द्रव्य और सक्रिय-चार द्रव्य क्रियाहीन है।[3] समस्त लोक मे व्याप्त होने के कारण उनमे गति-क्रिया सम्भव नही है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश एक-एक अखण्ड पिण्ड है,[4] शेष द्रव्य ऐसे नही है।

५ जीवद्रव्य·—जीव का असाधारण गुण, जिसके कारण वह अन्य द्रव्यों से पृथक् सिद्ध होता है, चेतना[5] है। चेतनावान् जीव अनन्त है, प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् जीव है, जीव का अपना कोई आकार नही तथापि वह जब जिस शरीर मे होता है उसी के आकार का और उसी के बराबर होकर रहता है[6]। एक जीव के असंख्य प्रदेश-अविभक्त अश होते है, और वे प्रकाश की तरह सकोच-विस्तारशील है। हाथी मर कर चिऊटी के पदार्थ मे जन्म लेता है, तो प्रदेश स्वभावत सिकुड कर चिऊँटी के शरीर मे समा जाते है।

[7]ज्ञाता, द्रष्टा, उपयोगमय, प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त यह सब जीव के विशेषण है। भगवान् महावीर कहते है —"हे गौतम![8] जीव इन्द्रियो के द्वारा नही जाना जा सकता, क्योकि वह अमूर्त है। अमूर्त होने से वह नित्य भी है।"

"हे गोतम! जीव[9] न लम्बा है, न छोटा, न गोल, न तिकोना, न

---

१. नन्दी सूत्र, सूत्र ५८।

२ पोग्गलत्थिकाय, रूविकाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, श० ७, उ० १०,

३ अवट्ठिए निच्चे, नन्दी, सूत्र ५८।

४ उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ८।

५. उवओगलक्खणे जीवे, भगवती श० २ उ० १०

६. प्रदेश सहार-विसर्गाभ्यां, प्रदीपवत्, तत्त्वार्थ सूत्र ५, १६ राजप्रश्नीय —सूत्र ७४,

७ उत्तराध्ययन अ० २८ गा० ११

८ उत्तराध्ययन अ० १४, गा० १९,

९. आचारांग अ० १।

चौकोर, न परिमण्डल, न काला, नीला, पीला, रक्त और न श्वेत है। सुगंध और दुर्गन्ध उसका स्वरूप नही, खट्टा मीठा आदि कोई रस उसमे है नही। कोमल कठोर आदि सभी स्पर्श उससे दूर हैं। वह उत्पाद और विनाश मे परे है, वह स्त्री नही, वह पुरुष नही, नपुसक नही, वह अरूपी सत्ता है। वह बुद्धि से नही, अनुभूति से ग्राह्य होता है। तर्कगम्य नही, स्वसवेदनगम्य है। उसका परिपूर्ण-स्वरूप प्रकट करने मे शब्द असमर्थ है।"

"हे गौतम! ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य, सामर्थ्य-उल्लास, और उपयोग जीव के लक्षण है।"

"अहम्" (मै) प्रत्यय से जीव की प्रत्यक्षत. प्रतीति होती है। जीव का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए अन्यान्य प्रमाण भी हैं। किन्तु 'अहम्' प्रत्यय सर्वोपरि प्रमाण है।

पहले कहा जा चुका है कि लोक मे जीव अनन्त है। वे सब स्वभावतः समान शक्तियो के धारक है, किन्तु कर्मो एवं आवरणो ने उनमे अनेकरूपता उत्पन्न कर दी है। उसके आधार पर सर्वप्रथम जीव दो भागो मे बांटे जा सकने है–ससारी और मुक्त। समस्त आवरणो से रहित शुद्ध जीव मुक्त, और आवरणो के कारण अशुद्ध जीव ससारी कहलाता है।

मुक्त जीव सभी प्रकार के वाह्य प्रभाव से रहित होने के कारण समान हैं, परन्तु ससारी जीवो में मुख्यतया कर्मप्रभाव के कारण नाना प्रकार के दृष्टि-गोचर होते है।। कर्मप्रभाव से जीव अर्ध भौतिक जैसा वन गया है। जानने देखने की अनन्त शक्ति होने पर भी आख के विना देख नही सकता, और कान के विना सुन नही सकता।

ससारी [१] जीव दो कक्षाओ मे विभक्त है–त्रस और स्थावर। जिन्हें सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय ही प्राप्त है, वे स्थावर जीव है। जिन्हे दो, तीन, चार या पाच इन्द्रियाँ प्राप्त है, वे त्रस कहलाते है।

"वौद्ध दर्शन" में वाईस ("वौद्ध धर्म दर्शन" पृष्ठ ३२८, साख्यदर्शन, तत्त्वार्थसूत्र, अ० २, भगवती सूत्र, शतक ५, उ०२,) और साख्य आदि दर्शनो में

---

१. स्थानांग, स्थान २, उद्देशा १, सू० ५७।

ग्यारह इद्रिया मानी गई है, मगर जैनदर्शन पाच इन्द्रियाँ स्वीकार करता है। इनके आधार पर जीव के पाच प्रकार होते है।

जिन अभागे जीवो को सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय प्राप्त है, उनमे चैतन्य की मात्रा स्वल्पतम है, अतएव साधारण लोगों ने ही नही, अधिकाश तत्त्व-चिन्तकों ने भी उनके जीवत्व को नही समझ पाया। उनका जीव विज्ञान-अपूर्ण रह गया है। मगर जैनदर्शन की सर्वगामिनी दृष्टि ने उन्हे देखा है और उनका अच्छा खासा विवरण भी दिया है। जैनदर्शन के अनुसार तारतम्य होने पर भी एकेन्द्रिय-स्थावर- जीवो मे चेतना के सम्पूर्ण विकार उपलब्ध होते है। उनमें चैतन्य, सुख-दुखानुभूति, जन्म, मरण, क्रोध, कषाय, सज्ञा आदि विद्यमान है, जिनसे उनके जीवत्व का समर्थन होता है। ऐसे जीव पाँच[1] प्रकार के है।

१ पृथ्वीकाय —[2] मृत्तिका, धातु आदि पृथ्वी इनका शरीर है। जब तक पृथ्वी अपने मूल पिण्ड से पृथक् नही होती, सजीव है।

२. अप्काय —[3] जल ही जिन जीवो का शरीर है, वे अप्काय के जीव है। स्मरण रखना चाहिए कि जल में रहने वाले चलते-फिरते असख्य जीव अप्काय नही है। अप्काय के जीव उनसे पृथक् है, जिनका शरीर जल ही है।

३. तेजस्काय —[4] अग्नि है। जैसे मनुष्य का शरीर आहार पाकर बढता है और उसके अभाव मे क्षीण होता है, उसी प्रकार अग्नि भी आहार पाकर बढ़ती है और उसके अभाव मे क्षीण होती है। इससे उसके जीवत्त्व का अनुमान किया जा सकता है।

४. वायुकाय —[5] वायुकाय हवा है। परप्रेरणा के बिना ही तिर्छी गति करना जीव का स्वभाव है, और यह स्वभाव वायु मे पाया जाता है।

५. वनस्पतिकाय :—[6] वृक्ष, पौधा और लता आदि भी सजीव है। जसे

---

१. स्थानाग, स्थानांग ५, उद्देशा १, सू० ३६४।
२. उत्तराध्ययन, अ० १०, गाथा २।
३ आचारांग अ० १
४. ,, ,, ,, ,,
५. ,, ,, ,, ,,
६. ,, ,, ,, ,,

मनुष्य जन्म लेकर वाल, युवा और वृद्ध होता है, वैसे ही वनस्पति भी । उसम मनुष्यो के ही समान शयन, जागरण, भय, लज्जा आदि विकार पाये जाते है । जैसे मनुष्य पथ्य आहार से पुष्ट, और अपथ्य आहार से दुर्बल होता है, उसी प्रकार वनस्पति भी होती है । मनुष्य की तरह वनस्पति पर भी विष का प्रभाव होता है । अन्य प्राणियों की तरह वनस्पति भी नियत आयु के वल पर जीती है ।

प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बोस ने वनस्पति का सजीव होना सिद्ध किया हे । खेद है कि यह कार्य आगे नही वढ़ा, किन्तु एक समय आएगा जव विज्ञान, पृथ्वीकाय, आदि की सजीवता पर भी अपनी स्वीकृति की मोहर लगाएगा । इस क्षेत्र में जैन दर्शन अव भी विज्ञान से आगे है ।

द्वीन्द्रिय जीव :—[1] जिन्हें स्पर्श और रसेन्द्रिय प्राप्त है-ऐसे द्वीन्द्रिय जीव, शख, सीप, कृमि आदि हैं ।

त्रीन्द्रियजीव :—[2] इन्हें एक घ्राणेन्द्रिय अधिक प्राप्त होती है । खटमल, चिऊँटी आदि इसी कोटि मे है ।

चतुरिन्द्रियजीव :—[3] इन्हें नेत्र भी प्राप्त है । मच्छर, मक्खी आदि चार इन्द्रिय वाले है ।

पंचेन्द्रिय जीव[4]—मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारकी आदि पचेन्द्रिय है । इनको पूर्वोक्त चार इन्द्रियो के अतिरिक्त श्रवण-इन्द्रिय भी प्राप्त है । यह कई प्रकार के हैं–जलचर, स्थलचर, नभचर, उर परिसर्प, भुजपरिसर्प आदि । कोई गर्भज होते है, और कोई सम्मूर्छिम । कोई समनस्क और कोई अमनस्क होते है ।

पाँचो एकेन्द्रिय जीवो मे वनस्पतिकाय के सिवाय शेष के सात-सात लाख अवान्तर भेद हैं । वनस्पतिकाय के चौवीस लाख भेद है । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवो के दो-दो लाख प्रकार है । सव मिलाकर ८४ लाख जीव योनिया है[5] इन सव जीवो का विशद वर्णन, आप विभिन्न जैनागमो में पायेगे ।

---

१. प्रज्ञापना प्रथम पद २ प्रज्ञापना प्रथम पद ३. प्रज्ञापना प्रथम पद ४ प्रज्ञापना प्रथम पद ।

५. आधुनिक विज्ञान, धर्म द्रव्य को Ethor or Principle of motion कहते हैं ।

६. अजीवद्रव्य :—जीवद्रव्य के दिग्दर्शन के पश्चात् अजीवद्रव्य की ओर ध्यान दे। जिसमें जीव के गुण चेतना आदि नही है, फिर भी जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य लक्षण से सम्पन्न है और जिस मे गुणो और पर्यायो की विद्यमानता है, वह अजीव द्रव्य पाच प्रकार का है—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल।

धर्मद्रव्य :—[1] यहा धर्म शब्द केवल जैन परम्परा मे ही प्रचलित एक पारिभाषिक शब्द है। वह अमूर्त, अक्रिय, अखण्ड और लोकव्यापी द्रव्य है, फिर भी उसमें निरन्तर परिणमन होता रहता है। गतिक्रिया मे परिणत जीव और पुद्गल की गति मे सहायक होता है, जैसे पानी, मछली की गति मे, अथवा लोहे की पटरी, रेल की गति मे सहायक होती है, उसी प्रकार धर्मद्रव्य जीव और पुद्गल की गति में सहायक है। पानी मछली को, और पटरी रेल को चलने के लिए प्रेरित नही करते, फिर भी पानी के विना मछली, और पटरी के अभाव में रेल चल नही सकती, इसी प्रकार धर्म द्रव्य किसी को गमन करने के लिए वाधित नही करता, फिर भी उसके अभाव में गति सभव नही है।[2]

अधर्मद्रव्य :—[3] यह द्रव्य धर्म द्रव्य के समान ही है, परन्तु इसका काम जीव और पुद्गल की स्थिति में सहायक होना है। जैसे ताप के झुलसे हुए मनुष्य में, छाया देख कर विश्राम करने की रुचि स्वयमेव जागृत हो जाती है, अतएव छाया उसकी विश्रान्ति का निमित्त है, उसी प्रकार स्थिति परिणत जीव और पुद्गल की स्थिति मे अधर्मद्रव्य सहायक है।[4]

यद्यपि गति और स्थिति मे जीव और पुद्गल स्वतत्र है, किन्तु इनकी सहायता के विना गति और स्थिति सभव नही है।

आकाशद्रव्य :—[5] सव द्रव्यो को स्थान देने वाला द्रव्य आकाश है। यह समस्त वस्तुओ का आधार है और आप ही अपने सहारे टिका है। उसका आधार कोई अन्य द्रव्य नही है। यह भी अमूर्त, अक्रिय और अखण्ड है। सर्व-व्यापी है। नित्य होने पर भी परिणमनशील है। (वैज्ञानिक आकाश को 'स्पेस'

---

१. वैज्ञानिक इसे Principle of rest कहते है।

२ आवश्यक सूत्र।

३. व्याख्या प्रज्ञप्ति श० १३, उद्देशा ४, सू० ४८१।

४. व्याख्याप्रज्ञप्ति श० १३, उद्देशा ४, सू० ४८१

५. " " " " " " "

कहते हैं। काट और हेगेल आकाश को मानसिक व्यापार अथवा कल्पना मानते थे, किन्तु आइन्स्टीन ने सिद्ध किया है कि आकाश एक सत् पदार्थ है)।

आकाश के जितने भाग मे धर्म और अधर्म द्रव्य व्याप्त है, वह भाग लोकाकाश या लोक कहलाता है। जो भाग उनमे शून्य है, वह अलोकाकाश है। धर्म-अधर्म द्रव्यो से शून्य होने के कारण अलोकाकाश में जीव और पुद्गल का गमन या अवस्थान भी नही होता। अतएव अलोकाकाश, सूना आकाश ही आकाश है। आकाश का लोक-खण्ड परिमित है, और अलोकखण्ड सभी ओर अपरिमित और असीम है।

काल द्रव्य —[1] कहा जा चुका है कि सभी द्रव्य मूल स्वभाव से नित्य होने पर भी परिणमनशील है। यद्यपि अपने-अपने परिणमन मे सब द्रव्य आप ही उपादान है, तथापि निमित्त कारण के अभाव में कार्य नही होता। अतएव द्रव्यो के परिणाम मे भी कोई निमित्त चाहिए। वही निमित्त काल द्रव्य है[2]।

समस्त विश्व, काल की सत्ता के बल पर ही क्षण-क्षण मे परिवर्तित हो रहा है। वस्तुए देखते-देखते नवीन से पुरातन और जीर्ण-शीर्ण हो जाती है। यह काल का ही प्रभाव है। (फ्रास के प्रसिद्ध वैज्ञानिक वर्गसन ने सिद्ध किया है कि काल एक Dynamic reality है। काल के प्रबल अस्तित्त्व को स्वीकार करना अनिवार्य है)। काल की सत्ता के अभाव मे हम किसी को ज्येष्ठ और किसी को कनिष्ठ किस आधार पर कह सकते है?

पुद्गल द्रव्य —[3] दृश्यात्मक अखिल जगत् पुद्गलमय है। ग्राम, नगर, भवन, वस्त्र, भोजन, विविध प्रकार के प्राणी वर्ग के शरीर आदि-आदि जो भी हमारी दृष्टि मे आते है, सभी पुद्गल है। यद्यपि यह कहा नही जा सकता कि जो पुद्गल है, वह सब हमे दृष्टिगोचर होता है, परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि जो दृष्टिगोचर है, वह पुद्गल ही है।

चय-अपचय होना और बनना-बिगड़ना-सब पुद्गल के ही रूप हैं। षट्-द्रव्यों में एक मात्र पुद्गल ही मूर्त अर्थात् वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से युक्त है।

---

१. अनुयोगद्वार, द्रव्यगुणपर्यायनाम, सू० १२४, भगवती सू०, श० २५, उद्देशा ५, सू० ७४७।

२. उत्तराध्ययन, अ० २८, गाथा १०।

३. भगवती सू० श० १३ उद्देशा ४ सू० ४८१।

वर्ण पाच है	—[1]	कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत ।
गंध दो है	—	सुगन्ध और दुर्गन्ध
रस पाच है	—	कटुक, कषाय, तिक्त, अम्ल, और मधुर ।
स्पर्श आठ है	—	कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, सूक्ष्म और स्निग्ध ।

यह सब बीस पुद्गल के असाधारण गुण है, जो तारतम्य एव सम्मिश्रण के कारण सख्यात, असख्यात और अनन्त रूप ग्रहण करते है ।

शब्द, गंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकृति, भेद, अधकार, छाया, चाँदनी और धूप पुद्गल के ही लक्षण है[2] ।

पुद्गल के अवस्थाकृत चार भेद[3] है —स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु । सम्पूर्ण पुद्गल पिण्ड स्कन्ध कहलाता है । स्कन्ध का एक भाग देश कहलाता है । स्कन्ध और देश से जुडा हुआ अविभाज्य अश प्रदेश कहलाता है और वह प्रदेश जब स्कध या देश से पृथक् हो जाता है तब परमाणु कहलाता है ।

साधारणतया कोई स्कन्ध बादर, और कोई सूक्ष्म होते है । बादर स्कन्ध इन्द्रियगम्य, और सूक्ष्म इन्द्रिय अगम्य होते है[4] ।

इन्हे छह भागो मे विभक्त किया गया है :—

१ बादर बादर स्कन्ध	—	जो टूट कर जुड न सके, लकड़ी पत्थर ।
२. बादर स्कन्ध	—	प्रवाही पुद्गल जो टूट कर जुड जाते है ।
३ सूक्ष्म बादर	—	जो देखने मे स्थूल किन्तु अकाट्य हो, जैसे
	—	धूप, प्रकाश आदि ।
४. बादर सूक्ष्म	—	सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियगम्य हो, जैसे रस, गध, स्पर्श, आदि ।
५ सूक्ष्म	—	इन्द्रियो से अगोचर स्कध, यथा-कर्मवर्गणादि
६ सूक्ष्मसूक्ष्म	—	अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध, यथा—कर्मवर्गणा से नीचे के द्व्यणुक पर्यन्त पुद्गल ।

परमाणु, पुद्गल का वह सूक्ष्मतम भाग है, जो पुन विभक्त नही हो

---

१. भगवती सू० श० १२ उद्देशा ४, स० ४५० ।

२ उत्तराध्ययन, अ० २८, गाथा १२ ।

३ प्रज्ञापना परिणाम पद, १३ सू० १८५ । ४ अनुयोगद्वार

सकता। परमाणु मे यद्यपि प्रदेश भेद नही है, मगर गुणभेद अवश्य होता है। उसमें एक वर्ण, एक गध, एक रस, और दो स्पर्श होते है।

आख का पलक गिराने मे जितना समय लगता है, उसके असख्यातवे अग को जैनशास्त्र 'समय'[१] की सजा देते है। जैसे पुद्गल का सूक्ष्मतम पर्याय परमाणु है, उसी प्रकार काल का सूक्ष्मतम भाग समय है। परमाणु मे अचिन्त्य वेग होता है, वह एक समय मे सम्पूर्ण लोक को पार कर लेता है। जैनशास्त्र बतलाते है कि[२] परमाणु आग की भयानक लपटो मे से गुजर कर भी जलता नही, पानी से गलता नही, सड़ता नही, हवा का उस पर असर होता नही, वह अभेद्य, अछेद्य, अदाह्य है—अविनश्वर है। हा, किसी स्कन्ध मे जब मिल जाता है तो उसका परमाणु-पर्याय नही रहता, तथापि उसकी सत्ता बनी रहती है। स्कन्ध के पृथक् होने पर वह पुन परमाणु का रूप ग्रहण कर लेता है।

जैन धर्म का परमाणु विज्ञान अत्यन्त विशद और गम्भीर है। जैन साहित्य में जितना चिन्तन एव विश्लेषण परमाणु के विषय में उपलब्ध है, उतना विश्वसाहित्य मे कही अन्यत्र नही। कहा जाता है कि आज का युग परमाणु-युग है, किन्तु जैन परमाणु विज्ञान को समझ लेने पर स्पष्ट हो जायेगा कि आज के अणु-वैज्ञानिक वास्तविक अणु तक अभी नही पहुंच सके है। उसे पाने के लिए अब भी गहरा गोता लगाने की आवश्यकता है। अणुभेद की जो बात आज कही जा रही है, वह वस्तुत स्कन्ध भेद-पिण्डभेद है। अणु तो अविभाज्य है।

एक अणु का दूसरे अणु के साथ किस प्रकार सयोग अर्थात् बध होता है? किन विशेषताओ के कारण परमाणु परस्पर बद्ध होते है, यह जानने के लिए जैनागमो का अभ्यास करने की आवश्यकता है। (देखिए-भगवती सूत्र, पन्नवणासूत्र, पचास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र, आदि)।

शब्द परमाणुजन्य नही, स्कन्धजन्य है, दो स्कन्धो के सघर्ष से शब्द की उत्पत्ति होती है। कई भारतीय आचार्य शब्द को अमूर्त्त आकाश का गुण कहते है, मगर अमूर्त्त का गुण मूर्त्त नही हो सकता। शब्द मूर्त्त है, यह जैन मान्यता आज विज्ञान द्वारा भी समर्थित हो चुकी है। शब्द का कूप आदि मे प्रतिध्वनित होना और ग्रामोफोन मे बद्ध होना उसके मूर्त्तत्व का प्रमाण है।

पुद्गल का चमत्कार—उपर्युक्त छह द्रव्यो का विस्तार ही यह जगत् है।[3] इसमे इनके अतिरिक्त कोई सातवा द्रव्य नही है।

१, अनुयोगद्वार। २ स्थानांग स्थान, ३ उद्देशा० ३ सू० ८२
३. उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ८।

तत्त्व-चर्चा

पिछले प्रकरण मे द्रव्यो के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा जा चुका है, वस्तुत उसी मे तत्त्व-चर्चा का समावेश हो जाता है, क्योकि जैसे मूलद्रव्य जीव और अजीव दो हैं, उसी प्रकार मूल तत्त्व भी यही दो हैं। फिर भी जैनशास्त्रो मे द्रव्यो से पृथक् तत्त्व का जो निरूपण किया गया है, उसका विशिष्ट प्रयोजन है।

द्रव्यनिरूपण सृष्टि का यथार्थ बोध प्राप्त करने के लिए है, जब कि तत्त्वविवेचन की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है।

साधक को इस विशाल विश्व की भौगोलिक स्थिति का और उसके अगभूत पदार्थों का ज्ञान न हो, तो भी वह तत्त्वज्ञान के सहारे मुक्तिसाधना के पथ पर अग्रसर हो सकता है, किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव मे कोरे द्रव्य ज्ञान से मुक्तिलाभ होना सभव नही है। हेय, उपादेय और ज्ञेय का विवेकतत्त्व विवेचन से ही सभव है। निग्गठ नायपुत्त महावीर का यह अमर घोष था कि साधक जब तक स्वरूप को पहचानने की क्षमता नही प्राप्त कर लेता, वह मुक्ति के पथ पर अग्रसर नही हो सकता।

जैनधर्म ज्ञान के दो भेद कर देता है—प्रयोजनभूत ज्ञान, और अप्रयोजनभूत ज्ञान। मुमुक्षु के लिए आत्मज्ञान ही 'प्रयोजनभूत ज्ञान' है, उसे अपनी मुक्ति के लिए यह जानना अनिवार्य नही, कि जगत् कितना विशाल है, और इसके उपादान क्या हैं? उसे तो यही जानना चाहिए कि आत्मा क्या है। सब आत्माएँ तत्त्वत समान है, तो उनमे वैषम्य क्यो दृष्टिगोचर होता है? यदि बाह्य उपाधि के कारण वैषम्य आया है, तो वह उपाधि क्या है? किस प्रकार उसका आत्मा से सम्बन्ध होता है? कैसे वह आत्मा को प्रभावित करती है? कैसे उससे छुटकारा मिल सकता है? छुटकारा मिलने के पश्चात् आत्मा किस स्थिति मे रहती है? इन्ही प्रश्नो के समाधान के लिए जैनागमो मे तत्त्व का निरूपण किया गया है।

सक्षेप मे यह कि द्रव्यनिरूपण का उद्देश्य दार्शनिक एव लौकिक है, और तत्त्वनिरूपण का उद्देश्य आध्यात्मिक है।

तत्त्व नौ[1] है —१ जीव २ अजीव ३ पुण्य ४ पाप ५ आस्रव ६. सवर ७ निर्जरा ८ बध ९. मोक्ष।

यह जैन धर्म का आध्यात्मिक मन्थन तथा विकास के साधक और

---

१ स्थानांग, स्था० ९, सूत्र, ६६५; उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८, गा० १४।

बाधक तत्त्वो का अपना मौलिक प्रतिपादन है। जैनधर्म इन्ही तत्त्वो के आधार पर जीव के उत्थान, पतन, सुख, दुःख और जन्म-मृत्यु आदि की समस्याएँ हल करता है। इन तत्त्वो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

१ जीव—जीव के सम्बन्ध मे पहले कहा जा चुका है। जीव कहिए या आत्मा, स्वभाव से अमूर्त होने पर भी कर्मबन्ध के कारण मूर्त-सा हो रहा है। प्रत्येक संसारी जीव कर्म से प्रभावित है। कर्मबन्ध आत्मा को पराधीन और दुःखी बनाता है। आत्मा कर्म उपार्जन करने मे स्वतन्त्र, किन्तु भोगने में परतन्त्र है। आत्मा स्वय ही अपने उत्थान-पतन का निर्माता है[1]। अपने भाग्य का विधाता है। वह न कूटस्थ नित्य है, और न एकान्त क्षणिक ही है, किन्तु अन्य द्रव्यो की भाति परिणामी नित्य है।

२. अजीव—अजीव का वर्णन पहले आ गया है। कहा जा चुका है कि जीव कर्मबन्ध के कारण ही अपने वास्तविक स्वरूप से वचित है। कर्म एक प्रकार के पुद्गल है। देखना चाहिए कि जीव का कर्म पुद्गलों के साथ क्यो और कैसे सम्बन्ध होता है।

३. पुण्य—[2]"पुनाति, पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्।"

"जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है, वह पुण्य है।" पुण्य एक प्रकार के शुभ पुद्गल है, जिनके फलस्वरूप आत्मा को लौकिक सुख प्राप्त होता है और आध्यात्मिक साधना मे सहायता प्राप्त होती है। धर्म की प्राप्ति सम्यक् श्रद्धा, सामर्थ्य, सयम और मनुष्यता का विकास भी पुण्य से ही होता है। तीर्थंकर नामकर्म भी पुण्य का फल है। पुण्य, मोक्षार्थियो की नौका के लिए अनुकूल वायु है, जो नौका को भवसागर से शीघ्रतम पार कर देती है। आरोग्य, सम्पत्ति आदि सुखद पदार्थों की प्राप्ति पुण्य कर्म के प्रभाव से ही होती है।

(आचार्य हेमचन्द्र ने कर्मों के लाघव को भी पुण्य माना है) "पुण्यत – कर्मलाघवलक्षणात् शुभकर्मोदयलक्षणाच्च।"—योगशास्त्र–प्र० ४, श्लो० १०७।

जिन प्रकारो से पुण्योपार्जन होता है, उन्हे नौ[3] भागो में विभक्त किया है. –

---

१. अप्पा कत्ता विकत्ता य, उत्तरा०, अ० २० गा० ३७।

२ स्थानांग, अभयदेव टीका, प्रथम स्थान

३. नवपुण्णे, ठाणांग, ठाणा ९.

१. अन्नपुण्य	—	भोजन का दान देना।
२. पान पुण्य	—	पानी का दान देना।
३. लयनपुण्य	—	निवास के लिए स्थान-दान करना।
४. शयनपुण्य	—	शय्या, सस्तारक-बिछौना आदि देना।
५. वस्त्रपुण्य	—	वस्त्र का दान देना।
६. मन पुण्य	—	मन के शुभ एवं हितकर विचार।
७. वचनपुण्य	—	प्रशस्त वाणी का प्रयोग।
८. कायपुण्य	—	शरीर से सेवा आदि शुभ प्रवृत्ति करना।
९. नमस्कारपुण्य	—	गुरुजनो एवं गुणी जनो के समक्ष नम्रभाव धारण करना, और प्रकट करना।

पुण्य के भी दो भेद है—१. द्रव्य पुण्य और २. भाव पुण्य।

अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-वृत्तियो से पुण्य का उपार्जन[1] होता है। विश्व, राष्ट्र, समाज, जाति तथा दुखी प्राणियो के दु खनिवारण करने की भावना, तथा तदनुकूल प्रवृत्ति करने से पुण्य का बन्ध होता है। और इन्ही सद्गुणो को सम्यक्दृष्टिपूर्वक सम्पादन किया जाय, तो यह धर्म तथा निर्जरा के भी कारण बन जाते है।

पाप—जिस विचार, उच्चार एव आचार से अपना और पर का अहित हो और जिसका फल अनिष्ट-प्राप्ति हो, वह पाप कहलाता है। पाप-कर्म आत्मा को मलीन और दु खमय बनाते है। निम्नलिखित अठारह अशुभ आचरणो मे सभी पापो का समावेश हो जाता है।

१ प्राणातिपात-हिंसा।
२. मृषावाद-असत्य भाषण।
३. अदत्तादान-चौर्यकर्म।
४. मैथुन-काम-विकार, लैंगिक प्रवृत्ति।
५. परिग्रह-ममत्व, मूर्छा, तृष्णा, संचय।
६. क्रोध-गुस्सा।
७ मान-अहकार, अभिमान।
८. माया-कपट, छल, षडयन्त्र, कूटनीति।
९. लोभ-सचय के सरक्षण की वृत्ति।
१०. राग-आसक्ति।
११ द्वेष-घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि।
१२. क्लेश-सघर्ष, कलह, लडाई, झगड़ा आदि।

---

१ भगवती, श० ७, उ० ६, सूत्र २८६।

१३. अभ्याख्यान-दोषारोपण   १४. पिशुनता-चुगली
१५. परपरिवाद-परनिंदा।   १६. रति-अरति–हर्ष और शोक।
१७ मायामृषा-कपट सहित झूठ।   १८ मिथ्यादर्शनशल्य–अयथार्थ श्रद्धा।

आस्रव:—[1] आत्मा मे कर्मो का आना और उनके आने का कारण आस्रव कहलाता है। मन, वचन, और काय की वह सब वृत्तिया, जिनसे कर्म आत्मा की ओर आकृष्ट होते है, आस्रव है। आस्रव कर्मबन्ध का कारण है।

आत्मा के लोक मे आस्रव ही कर्मो का प्रवेशद्वार है। मुमुक्षु-जीव को यह जान लेना अनिवार्य है कि वह कौन-सी वृत्तियाँ या प्रवृत्तिया है, जिनके कारण कर्मो का आगमन होता है? उन्हे जाने बिना निरुद्ध नही किया जा सकता, और मुक्तिलाभ भी नही लिया जा सकता।

आस्रवजनक वृत्तियो और प्रवृत्तियो की ठीक तरह गणना नही हो सकती, तथापि वर्गीकरण करके जैनशास्त्रो मे अनेक प्रकार से उनका दिग्दर्शन कराया गया है। मूल मे उनकी सख्या पाच है:—

१. मिथ्यात्व – विपरीत श्रद्धा।
२. अविरति – अहिंसा, असत्य आदि।
३. प्रमाद – कुशल अनुष्ठान मे अनादर।
४. कषाय – क्रोध, मान, माया, लोभ।
५, योग – मन, वचन और काया का व्यापार।

संवर—[2] मुमुक्षु जीव कर्मो के आस्रव के कारणो को पहचान कर जब उनसे विरुद्ध वृत्तियो का अवलम्बन लेता है तो आस्रव रुक जाता है। आस्रव का रुक जाना ही संवर है। उदाहरणार्थ—यथार्थ श्रद्धानिष्ठ बनने पर मिथ्यात्वजन्य आस्रव रुक जाता है, अहिंसा सत्य आदि व्रतो का आचरण करने से अविरति-जन्य आस्रव नही होता, अप्रमत्त अवस्था मे प्रमादजन्य आस्रव नही होता, वीतरागदशा प्राप्त कर लेने पर कषाय-जन्य आस्रव रुक जाता है, और पूर्ण आत्मनिष्ठा प्राप्त कर लेने पर योग-जन्य आस्रव रुक जाता है।

कर्मास्रव का निरोध[3] मन, वचन, काय के अप्रशस्त व्यापार को रोकने

---

१. समवायांग, समवाय ५।
२. उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र ११।
३ तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ९, सूत्र २, स्थानांगवृत्ति, स्था० १।

से, विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करने से, क्षमा आदि धर्मों का आचरण करने से, अन्त.-करण में विरक्ति जगाने से, कष्ट-सहिष्णुता और सम्यक् चारित्र का अनुष्ठान करने से होता है।

कोई भी साधक योग-क्रिया को सर्वथा निरुद्ध नही कर सकता। उठना, बैठना, खाना-पीना, सभाषण करना आदि जीवन के लिए अनिवार्य है। जैन-शास्त्र इन प्रवृत्तियो की मनाही नही करता, परन्तु इन पर अंकुश अवश्य लगाता है, और वह अंकुश है विवेक का। साधक जो भी प्रवृत्ति करे, वह विवेकपूर्ण होनी चाहिए, उसमें विवेक की आत्मा बोलनी चाहिए, वह समस्त क्रियाएं आस्रव है जिनके पीछे अविवेक काम करता है, इसके विपरीत विवेक-पूर्ण की जाने वाली क्रियाये धर्म और संवरमय है।

निर्जरा:—[1] संवर नवीन आने वाले कर्मो का निरोध है, परन्तु अकेला संवर मुक्ति के लिए पर्याप्त नही। नौका मे छिद्रो द्वारा पानी आना आस्रव है। छिद्र वन्द करके पानी रोक देना सवर समझिए। मगर जो पानी आ चुका है, उसका क्या हो? उसे धीरे-धीरे उलीचना पडेगा[2]। बस, यही निर्जरा है। निर्जरा का अर्थ है—जर्जरित कर देना, झाड देना। पूर्वबद्ध कर्मों को झाड देना, पृथक् कर देना निर्जरा तत्त्व है। कर्मनिर्जरा के दो प्रकार है—औपक्रमिक और अनौपक्रमिक।

परिपाक होने से पूर्व ही तप प्रयोग आदि किसी विशिष्ट साधना से, बलात्कर्मों को उदय मे लाकर झाड देना औपक्रमिक निर्जरा है। अपनी नियम-अवधि पूर्ण होने पर स्वतः कर्मों का उदय मे आना और फल देकर हट जाना अनौपक्रमिक निर्जरा है। इसका दूसरा नाम सविपाक निर्जरा है। यह प्रत्येक प्राणी को प्रतिक्षण होती रहती है। बन्ध और निर्जरा का प्रवाह अविराम गति से वढ रहा है; किन्तु साधक सवर द्वारा नवीन आस्रव को निरुद्ध कर, तपस्या द्वारा पुरातन कर्मों को क्षीण करता चलता है। वह अन्त मे पूर्णरूप से निष्कर्म[3] वन जाता है।

मगर यह साधना सरल नही है। इसके लिए सभी पर पदार्थो मे

---

१. स्थानाग, स्था० ५, उ० १, सूत्र ४०९।

२ जहा महातलागस्स, उत्तराध्ययन, अ० ३०, गा० ५।

३ उत्तराध्ययन, अ० १३, गा० १६।

अनासक्ति और साथ ही आत्मनिष्ठा अपेक्षित है। ऐसा साधक अपने विराट् चैतन्यस्वरूप को प्राप्त करना ही अपना एकमात्र ध्येय मानता है। जैनशास्त्र साधक-जीवन की अनासक्ति को यो प्रकट करते है.—

'अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइय।'

ससार के अन्य पदार्थों की वात तो दूर रही, साधक का अपने शरीर पर भी ममभाव नही रहता। वह अन्त स्थ होकर स्वरूपरमण मे ही लीन रहता है। इसी कारण सयमी साधक को अविपाक निर्जरा का अमूल्य तत्त्व प्राप्त होता है, जिसके वल पर वह कोटि-कोटि कर्मों को क्षण भर मे फल भोगे विना ही भस्म कर देता है। अडोल अकम्प साधक जगत् मे रहता हुआ भी, जगत् से और देह मे रहता हुआ भी देह से ऐसा अलिप्त रहता है जैसे कीचड़, पानी, और आग मे पडा हुआ सोना अपने स्वरूप मे शुद्ध बना रहता है। अलिप्त भाव से किया हुआ तपश्चरण कर्मसघात पर ऐसा प्रहार करता है कि वह जर्जरित होकर आत्मा से पृथक् हो जाते है। जैन परिभाषा में इसे 'सकाम' निर्जरा कहते हैं।

विवश होकर, हाय-हाय करते हुए भी कर्म भोगे जाते है, और फल देने के वाद वे निर्जीव हो जाते है। वह अकाम निर्जरा है। साधारण ससारी प्राणी अकामनिर्जरा द्वारा ही कर्मो को जीर्ण करते है, परन्तु ऐसा करते-करते वे और अधिक नवीन कर्म उपार्जन कर लेते है, जिससे उन्हे मुक्ति नही मिल पाती।

अभिप्राय यह है कि इच्छापूर्वक समभाव से कष्ट सहना, सकाम निर्जरा, और अनिच्छापूर्वक व्याकुल एव अशान्तभाव से कष्ट भोगना, अकामनिर्जरा है।

वन्ध —आत्मा के साथ, दूध-पानी की भाँति, कर्मो का मिल जाना, वन्ध कहलाता है। किन वृत्तियो एवं प्रवृत्तियो से कर्मो का आस्रव होता है, यह हम देख चुके है, मगर प्रश्न यह है कि आत्मा के साथ कर्मो का वन्ध होता कैसे है? आत्मा अरूपी और कर्म पुद्गल रूपी हैं। अरूपी के साथ रूपी का वन्ध किस प्रकार सभव है[१] ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा अपने स्वरूप से अरूपी है; तथापि अनादि काल से कर्मवद्ध होने के कारण रूपी भी है। मोहग्रस्त

१. स्थानांग, स्थान २, उद्देशा २, प्रज्ञापना पद २३, सू० ५।

ससारी प्राणी ने अब तक कभी अपना अमूर्त्त स्वभाव प्राप्त नही किया है, और जब वह उसे प्राप्त कर लेता है तो फिर कभी कर्मबद्ध नही होता ।

खनिज स्वर्ण का मिट्टी के साथ कब सयोग हुआ, नही कहा जा सकता। इसी प्रकार आत्मा के साथ पहले-पहल कब कर्मों का बन्ध हुआ, यह भी नही कहा जा सकता। इस सम्बन्ध मे जो कुछ कहा जा सकता है, वह यही कि इनका सम्बन्ध अनादिकालीन है।

जैसे चिकने पदार्थ पर रजकण आकर चिपक जाते ह, उसी प्रकार राग-द्वेष की चिकनाहट के कारण कर्म आत्मा से बद्ध हो जाते है।

राग-द्वेष, मोह आदि जो विकृत भाव कर्मपुद्गलो के बन्ध मे कारण है, वे भाव बन्ध है, और कर्म पुद्गलो का आत्मप्रदेशो के साथ एकमेक होना द्रव्य बन्ध है।

पुद्गल की अनेक जातियो मे एक 'कार्मण' जाति है। इस जाति के पुद्गल सूक्ष्मतर रज के रूप मे सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है। जब आत्मा मे रागादि विभाव का आविर्भाव होता है, वह पुद्गल वही के आत्मप्रदेशो से बद्ध हो जाते है, जहाँ वे पहले से मौजूद थे। यही बन्ध का स्वरूप है। बन्ध के समय उन कर्मो मे चार बाते नियत होती है, जिनके कारण बन्ध के भी चार प्रकार[1] कहे जाते है।

गाय घास खाती है, और अपनी औदर्य यन्त्रप्रणाली द्वारा उसे दूध के रूप मे परिणत कर देती है। उस दूध मे चार बाते होती है —

१ दूध की प्रकृति (मधुरता) २ कालमर्यादा—दूध के विकृत न होने की एक अवधि। ३ मधुरता की तरमता, जैसे भैस के दूध की अपेक्षा कम, और बकरी के दूध की अपेक्षा अधिक मधुरता होना आदि। ४ दूध का परिमाण सेर, दो सेर आदि।

इसी प्रकार कर्म मे एक विशेष प्रकार का स्वभाव उत्पन्न हो जाना प्रकृतिबन्ध है। कर्म के स्वभाव असख्य है, फिर भी उन्हे आठ भागो मे विभक्त किया गया है, जिनका स्पष्टीकरण पृथक् परिच्छेद मे दिया गया है। स्वभाव-निर्माण के साथ ही उसके बद्ध रहने की काल अवधि भी निश्चित हो जाती है, जिसे स्थिति बन्ध कहते है। फल (रस) देने की तीव्रता अथवा

---

१ समवायांग, समवाय ४।

मन्दता 'अनुभागबन्ध' या 'रस बन्ध' है, और कर्मप्रदेशों का समूह 'प्रदेश बन्ध' कहलाता है।

इन चार बन्धो मे से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगो की चचलता पर निर्भर होते है, अर्थात् कितने कर्मदल बन्ध, और उनमे किस प्रकार स्वभाव उत्पन्न हो, वह बात मानसिक, वाचिक और कायिक स्पन्दन के तारतम्य के अनुसार निश्चित होती है। कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ बद्ध रहे, और कितना मन्द, मध्यम या उग्र फल प्रदान करे, यह नियति कषाय की तीव्रता-मन्दता पर अवलम्बित है।

मोक्ष —[1] संवर द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रुक जाने और निर्जरा द्वारा पूर्वबद्ध समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने के फलस्वरूप आत्मा को पूर्ण निष्कर्म दशा प्राप्त हो जाती है। जब कर्म नही रहते तो कर्मजनित उपाधियां भी नही रहती, और जीव अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही जैनधर्म-सम्मत मोक्ष है।

मुक्त दशा में आत्मा[2] अशरीर, अनिन्द्रिय, अनन्त चैतन्यघन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त आत्मिक वीर्य से सम्पन्न हो जाता है। वह सब प्रकार की क्षुद्रताओं से अतीत, विराट् स्वरूप की उपलब्धि है।

विकार ही विकार को उत्पन्न करते है, जो आत्मा सर्वथा निर्विकार हो जाता है वह फिर कभी विकारमय नही होता। वह आस्रव और बन्ध के कारणो से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इसी कारण मुक्त दशा शाश्वतिक है। मुक्तात्मा फिर कभी ससार मे अवतीर्ण नही होते[3] वह जन्म-मरण से आत्यन्तिक निवृत्त है।

आत्मा स्वभावत. ऊर्ध्वगतिशील है। जिस प्रकार मृत्तिका से लिप्त तूबा जल में छोड देने पर नीचे की ओर चला जाता है, और ठेठ पैंदे पर जा टिकता है, किन्तु लेप गल जाने पर हल्का होकर पानी की सतह पर आ जाता है, और जैसे अग्निशिखा स्वभावत. ऊर्ध्वगति करती है, उसी प्रकार आत्मा कर्मलेप से मुक्त होते ही स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करती है।

---

१ उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र ७२।

२. उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ६७।

३ दशाश्रुतस्कध, अ० ५, गा० १३।

मगर लोकाकाश से आगे गति सहायक धर्मद्रव्य नही है। अतएव वहाँ उसकी गति का निरोध हो जाता है, और मुक्तात्मा लोकाग्र भाग[1] में ही प्रतिष्ठित हो जाती है। इस प्रकार समस्त औपाधिक भावो से छुटकारा पा लेना, चैतन्यानुभूति की पूर्ण विशुद्धि हो जाना, या आत्मा का परम-आत्मा बन जाना ही मोक्ष है। यही ईश्वरत्व की प्राप्ति है।

संसार-दशा मे, आत्मा मे ज्ञान और आनन्द के जो विकृत अश अनुभव में आते है, वे आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द नामक गुण के विकार है। मुक्त-दशा में वह अपने शुद्ध स्वरूप मे प्रकट हो जाते है, अतएव मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान, और पूर्ण एव अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते हैं।

मोक्ष-लाभ ही मानव-जीवन का चरम और परम पुरुषार्थ है। यही समस्त साधनाओ का सार है।

प्रमाण-मीमांसा

जैनशास्त्रो मे ज्ञान की मीमासा के दो प्रकार उपलब्ध होते हैं—आगमिक पद्धति से और तार्किक पद्धति से। आगमिक पद्धति, और तार्किक पद्धति मे वस्तुतः कोई मौलिक भेद नही है, तथापि दोनो का वर्गीकरण जुदा-जुदा है। आगमिक पद्धति के वर्गीकरण के अनुसार ज्ञान के पाच भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान, और केवल ज्ञान। इनका दिग्दर्शन हम आगे करेगे। तार्किक पद्धति के अनुसार सशय, विपर्यास और अनध्यवसाय से रहित सम्यग्ज्ञान, प्रमाण कहलाता है। प्रमाण ज्ञान को चार भागो मे विभक्त किया गया है[2]।

१. प्रत्यक्ष २. अनुमान ३. आगम और ४. उपमान।

इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है —

१ प्रत्यक्ष :—[3] विशद ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान मे वस्तुगत विशेषताए प्रचुरता से प्रतीत होती है, वह प्रत्यक्ष है। पूर्वोक्त पाच ज्ञानो मे से मति ज्ञान

---

१ उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ५७।

२. पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे, अनुयोगद्वार। प्रमाणद्वारम्।

३. से किं तं पच्चक्खे ? अनुयोगद्वार-प्रमाणद्वारम्।

और श्रुत ज्ञान परोक्ष[1] है और अन्तिम तीन-अवधि, मन पर्याय, और केवल ज्ञान-प्रत्यक्ष[2] है । प्रत्यक्ष में भी अवधिज्ञान और मन.पर्यायज्ञान विकल या आंशिक प्रत्यक्ष है, और केवल ज्ञान परिपूर्ण होने के कारण सकल प्रत्यक्ष कहलाता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वस्तुत परोक्ष है, किन्तु लोक-प्रतीति के अनुसार वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहलाते है।

२. अनुमान —[3]–[4] अनुमान तर्कशास्त्र का प्राण है। यद्यपि अनुमान प्रत्यक्षमूलक होता है, तो भी उसका अपना विशिष्ट स्थान है। अनुमान के द्वारा ही हम ससार का अधिकतम व्यवहार चला रहे है। अनुमान के आधार पर ही तर्कशास्त्र का विशाल भवन खडा हुआ है।

कार्य-कारण के सिद्धान्त से अनुमान प्रमाण का प्रादुर्भाव होता है। अग्नि से ही धूम्र की उत्पत्ति होती है, और अग्नि के अभाव मे धूम्र उत्पन्न नही हो सकता, इस प्रकार का कार्य-कारण भाव व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध कहलाता है। इसका निश्चय तर्क प्रमाण से होता है। अविनाभाव निश्चित हो जाने पर कारण को देखने से कार्य का बोध हो जाता है। वही बोध अनुमान कहलाता है। किसी जगह धूम से उठते हुए गुब्बारे को देखकर अदृष्ट अग्नि की कल्पना स्वत होती है[5] यही अनुमान ज्ञान है।

कही कोई शब्द सुनाई देता है, तो श्रोता उसी समय निश्चित कर लेता है कि यह शब्द मनुष्य का है अथवा पशु का है। मनुष्यों में भी अमुक मनुष्य का है, और पशुओ मे भी अमुक पशुजाति का है। इस प्रकार केवल स्वर से स्वर वाले को जान लेना अनुमान का फल है[6] ।

अनुमान के दो भेद है.—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । अनुमान-कर्त्ता जब अपनी अनुभूति से स्वयं ही किसी तथ्य (ज्ञेय-साध्य) का हेतु

---

१. परोक्खे णाणे दुविहे, स्थानांग सूत्र, स्था० २।
२. तिविहे पण्णते, अनुयोगद्वार प्रमाणद्वारम्।
३. से किं तं अणुमाणे, अनुयोगद्वार० प्रमाणद्वारम्।
४. अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम्, मल्लधारीया टीका।
५ अग्गि धूमेणं
६ सखं सद्देणं

(साधन) द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, तो वह स्वार्थानुमान कहलाता है। और जब वह वचनप्रयोग द्वारा किसी अन्य को वही तथ्य समझाता है, तो उसका वह वचन-प्रयोग परार्थानुमान कहलाता है। स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है, और परार्थानुमान वचनात्मक है।

परार्थानुमान का शाब्दिक रूप क्या होना चाहिए ? इस विषय को लेकर भारतीय न्यायशास्त्रियो ने बहुत विचार किया है। न्यायदर्शन मे परार्थानुमान के पाच अवयव[1] स्वीकार किये गये हैं, जो इस प्रकार है :—

१. पर्वत मे अग्नि है (प्रतिज्ञा)।
२. क्योकि वहा धूम्र है (हेतु)।
३. जहा-जहा धूम्र होता है, वहां—वहा अग्नि होती है (व्याप्ति) जैसे रसोई घर (उदाहरण)।
४. पर्वत मे भी धूम्र है (उपनय)।
५. अतएव अग्नि है (निगमन)

जैन तार्किक समझदारो के लिए इनमे से प्रथम के दो अवयवो का प्रयोग ही पर्याप्त मानते है। अलवत्ता किमी अवोध व्यक्ति को समझाने के लिए अधिक अवयवों का प्रयोग करना आवश्यक हो तो उनके प्रयोग मे कोई हानि नही समझते। मगर पांचो अवयवो के प्रयोग को वे अनिवार्य नही समझते।

३. आगम प्रमाण—[2] श्रुतज्ञान के विवेचन मे आगम प्रमाण का वर्णन किया जायेगा।

४. उपमान प्रमाण—[3] प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से अप्रसिद्ध पदार्थ का सम्यक् वोध होना उपमा या उपमान प्रमाण कहलाता है।

'गवय गौ के समान होता है' यह वाक्य जिसने सुन रक्खा है, वह व्यक्ति जव अचानक गौ के सदृश पशु को देखता है, तो पहले सुने हुए उस वाक्य का स्मरण करके झट समझ जाता है, कि यह गवय है। इस प्रकार दर्शन और स्मरण दोनो के निमित्त से होने वाला सदृशता का ज्ञान ही उपमान है।

---

१ पंचेविह पण्णतं।
२. से किं तं आगमे, अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम्।
३ से किं त ओवम्मे, अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम।

प्रमाणो का यह वर्गीकरण तर्कानुसारी होने पर भी आगमिक है। पश्चाद्वर्त्ती तार्किक आचार्यो ने प्रमाण का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से किया है। उनके अनुसार प्रमाण दो प्रकार के है, प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद है —साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, और पारमार्थिक प्रत्यक्ष[1]। परोक्ष प्रमाण पाच प्रकार का है —

१. स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३. तर्क ४ अनुमान और ५ आगम।

स्मरण रखना चाहिए कि इस वर्गीकरण मे भी पूर्वोक्त वर्गीकरण से कोई मौलिक या वस्तुगत पार्थक्य नही है। इसमे उपमान प्रमाण को पृथक् स्थान नही देकर, प्रत्यभिज्ञान मे सम्मिलित कर लिया गया है।

स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क उस वर्गीकरण के अनुसार साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है।

नयवाद

१. नय स्वरूप —विश्व के समस्त दर्शनशास्त्र वस्तुतत्त्व की कसौटी के रूप मे प्रमाण को अगीकार करते है। किन्तु जैनदर्शन इस सम्बन्ध मे एक नयी सूझ देता है। उसकी मान्यता है कि प्रमाण अकेला वस्तुतत्त्व को परखने के लिए पर्याप्त नही है। वस्तु की यथार्थता का निर्णय प्रमाण और नय के द्वारा ही हो सकता है। जैनेतर दर्शन नय को स्वीकार न करने के कारण ही एकान्तवाद के समर्थक वन गये है, जब कि जैनदर्शन नयवाद को अंगीकार करने से अनेकान्तवादी है।

प्रमाण वस्तु की समग्रता को, उसके अखण्ड एक रूप को विषय करता है। नय उसी वस्तु के अशो को, उसके खंड-खड रूपो को जानता है।

किसी भी वस्तु का पूरा और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका विश्लेपण करना अनिवार्य है। विश्लेषण के विना उसका परिपूर्ण रूप नही जाना जा सकता। तत्त्व का विश्लेषण करना और विश्लिप्ट स्वरूप को समझना नय की उपयोगिता है।

---

१. जैन न्याय तर्क सग्रह (यशोविजय) प्रमाण खण्ड।

नयवाद के द्वारा परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों के अविरोध का मूल खोजा जाता है, और उनका समन्वय किया जाता है।

नय विचारो की मीमासा है। वह एक ओर विचारो के परिणाम, और कारण का अन्वेषण करते है, और दूसरी ओर परस्पर विरोधी विचारो मे अविरोध का बीज खोज कर समन्वय स्थापित करते हैं।

क्या आत्मा-परमात्मा और क्या जड़ पदार्थ, सभी विषयो मे परस्पर विरोधी मन्तव्य उपलब्ध होते हैं। एक जगह विधान है कि आत्मा एक है, तो दूसरी जगह कहा गया है कि आत्माए अनन्त-अनन्त हैं। ऐसे विरुद्ध दिखाई देने वाले मन्तव्यो के विषय मे नयवाद अपेक्षा की नीति अपनाता है। वह विचार करता है कि किस दृष्टिकोण से आत्माए अनेक हैं ? इस प्रकार के दृष्टि-कोणो का अन्वेषण करके उन विचारो की सचाई का आधार खोज निकालना ही नय का काम है, अतएव नय विविध विचारो के समन्वय की पीठिका तैयार करता है। इसलिए नयवाद अपेक्षावाद भी कहलाता है।

जगत के विचारो के आदान-प्रदान का साधन नय है। प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म-स्वभाव गुण विद्यमान हैं। उनके विषय मे अनन्त अभिप्रायो को विषय करने वाले नय भी अनन्त होते हैं।

अभिप्राय यह है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को अखण्ड रूप मे जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है, तो उसी वस्तु के किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है। प्रमाण अनेकाश ग्राही है, तो नय एक अश का ग्राहक है।

२. **नय की सत्यता**—कहा जा सकता है कि अनेक अशो मे से सिर्फ एक अश को ग्रहण करने वाला नय मिथ्याज्ञान है। नय यदि मिथ्याज्ञान है तो वह वस्तुतत्त्व के निर्णय का आधार कैसे बन सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि किसी भी नय की यथार्थता इस बात पर अवलम्बित है, कि वह दूसरे नय का विरोधी न हो। उदाहरण के लिए आत्मा को लीजिए। एक नय से आत्मा नित्य है और दूसरे नय से आत्मा अनित्य है। आत्मा का आत्मत्व शाश्वत है, उसका कभी विनाश सभव नही है, इस दृष्टिकोण से आत्मा नित्य है। किन्तु आत्मा शाश्वत होता हुआ भी अनेक रूपो मे परिवर्तित होता रहता है। कभी मनुष्य के पर्याय मे उत्पन्न होता है, कभी पशु-पक्षी की योनि मे

जन्म लेता है, तो कभी नरक का कीड़ा बन जाता है। इस दृष्टिकोण से आत्मा अनित्य भी है। यहां नित्यताग्राही नय अगर अनित्यताग्राही नय का विरोध न करे, उसके प्रति उपेक्षा रखे और सिर्फ अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन तक ही सीमित रहे तो वह सम्यक्नय कहा जाएगा। इसके विपरीत, जब एक नय अपन दृष्टिकोण के प्रतिपादन के साथ दूसरे नयो के दृष्टिकोण का विरोध करता है तो ऐसा करनेवाला नय मिथ्यानय बन जाता है।

सरल शब्दो मे कहना चाहिए-कोई नय तभी तक सच्चा है, जब तक वह दूसरे को झूठा नही कहता। जब उसने दूसरे को झूठा कहा तो वह स्वयं झूठा हो गया।

३. नयभेदः—कहा जा चुका है कि एक वस्तु मे अनन्त-अनन्त धर्म है और उसमे एक एक धर्म को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नय कहलाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब धर्म अनन्त है तो नय भी अनन्त होने चाहिएं। वास्तव मे ऐसा ही है। जगत् मे प्रचलित अभिप्राय या वचन-प्रयोग गणना म नही आ सकते तो उनको ग्रहण करने वाले नयो की गणना भी सम्भव नही। इसीलिए जैनदर्शन कहता है :—

'जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया।'

अर्थात्-जितने वचन के पथ है, या वस्तु सम्बन्धी अभिप्राय है, उतने ही नय के प्रकार है।

फिर भी वर्गीकरण के सिद्धान्त का उपयोग किया जाय तो उन समस्त नयो को दो भागो मे बाटा जा सकता है[1]।

१ द्रव्यार्थिकनय और २ पर्यायार्थिक नय।

मूल पदार्थ द्रव्य कहलाता है और उसकी विभिन्न और देशो और कालो में होने वाली नाना अवस्थाए पर्याय कहलाती है। समस्त विचारो की प्रवृत्ति या तो द्रव्य के द्वारा या पर्याय के द्वारा होती है, अतएव मूलभूत दो ही है।

द्रव्य नित्य है, अतएव नित्यता को ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

---

१. से किं तं णए ? सत्तमूलणया पण्णत्ता अनुयोगद्वार नयद्वारस,

मध्यम रीति से इन दोनो नयो के सात भेद किये गये है :—[1]

१. नैगम २ सग्रह ३. व्यवहार ४ ऋजुसूत्र ५. शब्द ६. समभिरूढ और ७. एवंभूत।

इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१. नैगम :— निगम अर्थात् लोकरूढि या लौकिक सस्कार से उत्पन्न हुई कल्पना को नैगम नय कहते है। जैसे चैत्रशुक्ला त्रयोदशी आने पर कहना-आज महावीर भगवान् का जन्म दिन है। वास्तव में भगवान महावीर का जन्म अढ़ाई हज़ार वर्ष पूर्व हुआ था, फिर भी लोकरूढि के अनुसार ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि रास्ता कही आता-जाता नही, फिर भी लोग कहते है --यह रास्ता दिल्ली जाता है। फूटे घड़े में पानी चूता है, मगर दुनिया कहती है, घड़ा चूना है। जिस दृष्टिकोण से ऐसे कथन सही समझे जाते है, वह दृष्टिकोण नैगम नय कहलाता है।

२. संग्रहनय—[2] सग्रहनय का अर्थ है अभेद दृष्टि। जड और चेतन तत्त्वो की जो धारा समान रूप से प्रवाहित हो रही है, उसी सामान्य तत्त्व को मुख्य करके सत्तावर्म की प्रधानता को लक्ष्य मे रखकर सब को एक रूप मानने वाला अभिप्राय सग्रहनय कहलाता है।

जड़ और चेतन एक है, क्योकि दोनो मे एक ही सत्ता समान रूप से व्याप्त है। सब आत्मा एक है, क्योकि उनकी स्वाभाविक चेतना मे कोई विलक्षणता नही है। मनुष्य मात्र एक है, क्योकि मनुष्यत्व जाति एक है। इस प्रकार समान धर्म के आधार पर एकत्व की स्थापना करना सग्रहनय है।

स्मरण रखना चाहिए कि जिन वस्तुओ में किसी समान धर्म के आधार पर एकता की कल्पना की गई है, उनमे बहुत से विशिष्ट धर्म भी होते है, जिनके आधार पर उन्हे एक दूसरे से पृथक् किया जा सकता है। मगर सग्रह नय उन्हे स्वीकार नही करता।

---

१. से कि तं णए ? सत्तमूलणया पण्णता, स्थानांगसूत्र स्था० ७, सूत्र ५५२।

२ अनुयोगद्वार, नयद्वार, गा० १३७।

३. व्यवहार नय —[१] पदार्थो मे रहे हुए विशेष अर्थात् भेदकारी धर्मों को प्रधान करके उनमे भेद स्वीकार करने का दृष्टिकोण व्यवहार नय है।

संग्रह नय अभेद की प्रधानता पर चलता है, मगर अभेद से लोक-व्यवहार नही चल सकता। जड़ और चेतन सत्ता की समानता के कारण भले ही एक हो, मगर जड मे चेतना नही है, और चेतन जीव मे चेतना है। इस कारण दोनो की भिन्नता भी वास्तविक है। मनुष्यत्व के लिहाज से मनुष्य मात्र एक है सही, फिर भी मनुष्य-मनुष्य मे प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला अन्तर भी वास्तविक है। इस प्रकार पृथक्करण वादी दृष्टिकोण व्यवहारनय है।

लोक-व्यवहार अभेद से नही, भेद से चलता है। सग्रहनय की दृष्टि मे साडी और पगड़ी एक है, मगर साड़ी की जगह पगड़ी, और पगड़ी की जगह साडी से काम नही चलता, दोनो में भेद है और उस भेद को स्वीकार करना ही व्यवहार नय है।

यह तीन नय साधारणतया द्रव्य को ही प्रधान रूप से ग्रहण करते है, अतएव इन्हे द्रव्यार्थिकनय कहा गया है।

४. ऋजुसूत्रनय —[२] कभी कभी मानवीय बुद्धि भूत और भविष्यत् के स्वप्नो को ठुकरा कर तात्कालिक लाभालाभ को ही लाभालाभ स्वीकार करती है। भूतकालीन वस्तु विनष्ट हो जाने के कारण असत् है, और भविष्यत्कालीन उत्पन्न न होने के कारण असत् है। उनकी कोई उपयोगिता नही। वर्तमानकालीन समृद्धि ही वास्तव मे समृद्धि है। जो धन नष्ट हो गया, और भविष्य मे मिलेगा, वह कोरा स्वप्न है। आज उसकी कोई सत्ता नही।

इस प्रकार बुद्धि जब वर्तमान को ही सर्वस्व मानकर चलती है, तो वह वर्तमान विषयक विचार ऋजुसूत्रनय कहलाता है।

५. शब्दनय —[३] पूर्वोक्त चार नय वस्तु को प्रधान रख कर विचार करते है। अतएव इन्हे अर्थनय कहते है। शब्दनय और इससे आगे के समभिरूढ तथा एवभूतनय शब्द सम्बन्धी विचार प्रस्तुत करते है। अत यह तीनो

---

१. अनुयोगद्वार, नय द्वार, गा० १३७।
२. ,, ,, ,, ,, ,, १३८।
३. ,, ,, ,, ,, ,, ,,

शब्दनय कहलाते है। शब्दनय पर्यायवाची शब्दो को एकार्थ स्वीकार करता है; मगर उनमे यदि काल, लिंग, कारक, वचन या उपसर्ग की भिन्नता हो तो उन्हे एकार्थक नही मानता।

लेखक लिखता है—'अयोध्या नगरी थी।' यद्यपि अयोध्या नगरी लेखक के समय मे भी है, फिर भी वह 'है' न लिखकर 'थी' क्यो लिखता है? इस प्रश्न का उत्तर शब्दनय यह देता है कि कालभेद से अयोध्या नगरी मे भी भेद हो जाता है। अतएव लेखक के समय की अयोध्या और है तथा जिस समय की घटना वह लिखता है, उस समय की अयोध्या और थी। इसीलिए लेखक 'अयोध्या थी,' ऐसा लिखता है, 'अयोध्या है' नही लिखता है। यह कालभेद से अर्थभेद का उदाहरण है।

इसी प्रकार लिंगभेद से भी अर्थभेद हो जाता है यथा, नर और नारी। उपसर्ग का भेद भी अर्थ मे भेद उत्पन्न कर देता है। जैसे प्रस्थान-गमन, सस्थान-आकार। अथवा आहार, विहार, प्रसार, परिहार, सहार, नीहार आदि।

इन उदाहरणो के आधार पर कारक और वचन आदि के भेद से वस्तु-भेद हो जाने की कल्पना की जा सकती है।

६ समभिरूढ़ नय—[1] यह नय शब्दनय से भी एक कदम आगे बढकर सूक्ष्म शाब्दिक चिन्तन करता है। कहता है—अगर काल और लिंग आदि की भिन्नता अर्थभेद उत्पन्न कर सकती है तो व्युत्पत्ति (शब्दो की बनावट) के भेद से भी वस्तुभेद क्यो न माना जाय? अत समभिरूढनय विभिन्न पर्यायवाची शब्दो को एकार्थक नही मानता। इसके मतानुसार सभी कोष मिथ्या ह, क्योकि एकार्थ बोधक अनेक शब्दो का प्रतिपादन करते है। कोष 'राजा' 'नृप' और 'भूप' को एकार्थक बतलाता है, किन्तु इनकी बनावट पर ध्यान दिया जाय तो उनका अर्थभेद स्पष्ट है। राजदण्ड को धारण करने वाला 'राजा।' मनुष्य का पालन करने वाला 'नृप।' पृथ्वी का रक्षण करने वाला 'भूप' कहलाता है। अगर 'नृप' और 'भूप' शब्दो का एक ही अर्थ माना जाय तो मनुष्य और पृथ्वी का अर्थ भी एक हो जाना चाहिए।

वैयाकरणो मे 'शब्दभेदात् अर्थभेद—अर्थभेदात् शब्दभेद' अर्थात्

---

१ अनुयोगद्वार, नयद्वारम्, गाथा १३९।

शब्द के भेद से अर्थ में और अर्थ के भेद से शब्द मे भेद हो जाता है, यह प्रचलित सिद्धान्त इसी दृष्टिकोण पर अवलम्बित है।

७ एवंभूतनय—[1] यह नय सूक्ष्मतम शाब्दिक विचार हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इसका कथन यह है—यदि व्युत्पत्ति के भेद से अर्थ मे भेद हो जाता है तो जब व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किसी वस्तु मे घटित हो, तभी उस शब्द का प्रयोग करना चाहिए और जब वह अर्थ घटित न हो तब उस शब्द का प्रयोग नही करना चाहिए।

एवंभूतनय समस्त शब्दो को क्रियावाचक ही मानता है। संज्ञावाचक गुणवाचक, भाववाचक अथवा अव्यय आदि के नाम से प्रसिद्ध सभी शब्द क्रिया-वाची ही है। प्रत्येक शब्द से किसी न किसी क्रिया का ही बोध होता है। अतएव जब पदार्थ, जैसी क्रिया कर रहा हो, तब उसी क्रिया के वाचक शब्द से उसे अभिहित किया जा सकता है।

उदाहरणार्थ—"अध्यापक" का अर्थ है, पढाने की क्रिया करन वाला तो जब कोई व्यक्ति यह क्रिया कर रहा है, तो तभी उसे अध्यापक कहा जा सकता है। जब वह खाता, सोता या चलता है, तब अध्यापन-क्रिया नही करता और इस कारण उसे अध्यापक भी नही कहा जा सकता। अध्यापन क्रिया न करने पर भी यदि उसे अध्यापक कह दिया जाय तो फिर दुकानदारी या रसोईया को भी अध्यापक कहने मे क्या हर्ज है?

इस प्रकार एवभूतनय क्रिया को ही शब्दप्रयोग का नियामक मानता है।

सात नयो के विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा कि नयवाद मे अनन्त धर्मो के अखण्ड पिण्ड रूप वस्तु के किसी एक धर्म को प्रधानता देकर कथन किया जाता है। उस समय वस्तु मे शेष धर्म विद्यमान तो रहते है, मगर वे गौण हो जाते है। इस प्रकार सत्य के एक अश को ग्रहण करने वाला ज्ञान ही नय है।

नयो द्वारा प्रदर्शित सत्याश और प्रमाण द्वारा प्रदर्शित अखण्ड सत्य मिलकर ही वस्तु के वास्तविक और सम्पूर्ण स्वरूप के बोधक होते है।

जैनागमो मे नय सिद्धान्त निरूपण बहुत विस्तार से किया गया है। अनेक ग्रथ केवल इसी विषय को समझाने के लिए लिखे गये है।

---

१. अनुयोगद्वार, नयद्वारम्, गाथा १३९

अनेकान्त

सन्त सस्कृति के प्राणप्रतिष्ठापक और समन्वय सिद्धान्त के प्रणेता श्रमण भगवान् महावीर ने तत्व विचार की एक मौलिक और अतिशय दिव्य पद्धति जगत् को प्रदान की। यही नही, उन्होने वस्तु के सर्वाङ्गीण स्वरूप को समझाने की एक सापेक्ष भाषा-पद्धति भी दी। उन्होने बतलाया-"विचार अनेक है, और बहुत बार वे परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते है, परन्तु उनमे भी एक सामजस्य है, अविरोध है, और उसे जो भलीभाँति देख सकता है, वही वास्तव मे तत्वदर्शी है।"

परस्पर विरोधी विचारो मे अविरोध का आधार वस्तु का अनेकधर्मात्मक होना है[1]। एक मनुष्य जिस रूप मे वस्तु को देख रहा है, उसका स्वरूप उतना ही नही है। मनुष्य की दृष्टि सीमित है, पर वस्तु का स्वरूप असीम है। प्रत्येक वस्तु विराट् है, और अनन्त-अनन्त अशो, धर्मो-गुणो और शक्तियो का पिण्ड है। यह अनन्त अश उसमे सत् रूप से विद्यमान है। यह वस्तु के सहभावी धर्म कहलाते है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु द्रव्यशक्ति से नित्य होने पर भी पर्याय शक्ति से क्षण क्षण मे परिवर्ननशील है। यह परिवर्तन (पर्याय) एक दो नही, हजार लाख भी नही, अनन्त है, और वे भी वस्त के ही अभिन्न अश है। यह अश क्रमभावी धर्म कहलाते है।

इस प्रकार अनन्त सहभावी धर्मो और अनन्त क्रमभावी पर्यायो का समूह एक वस्तु है। मगर वस्तु का वस्तुत्व इतने मे भी समाप्त नही होता, वह इससे भी विशाल है।

जैसे सिक्के के दो बाजू होते है, और दोनो बाजू मिलकर ही पूरा सिक्का बनता है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सत्ता और असत्ता दोनो अशो के समुदाय से बना है। अभी जिन धर्मों और पर्यायो का उल्लेख किया गया है, वे सब तो सिर्फ सत्ता-अश है। असत्ता अश इससे भी विराट् है और वह भी वस्तु का अग ही है।

किसी भी पदार्थ मे इतर पदार्थो की अभाव रूप से पाई जाने वाली वृत्ति, वस्तु का असत्ता अश है।

---

१ स्याद्वादमंजरी, कारिका, ५।

स्पष्टता के लिए एक उदाहरण लीजिए। घट आपके सामने है। आप आखो से घट का रूप और आकार ही देख पाते हैं। मगर घट सिर्फ रूप और आकार मात्र नही।

आप घट को ऊचा उठाएगे तो आपको उसके कुछ अधिक धर्म प्रतीत होगे, उसका गुरुत्व मालूम होगा, चिकनापन प्रतीत होगा, और भी कुछ मालूम हो सकता है। मगर घट का यह स्वरूप पूरा नही होगा।

घट का पूरा स्वरूप समझने के लिए आप किसी तत्व-ज्ञानी की शरण लीजिए। वह आपको बतलाएगा कि घट मे जैसे, रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि स्थूल इन्द्रियो से प्रतीत होने वाले गुण हैं, उसी प्रकार इन्द्रियो से प्रतीत न होने वाले गुण भी है, और ऐसे गुण अनन्त है।

अब आपने समझ लिया कि घट मे अनन्त गुण विद्यमान है। फिर भी क्या एक घट का स्वरुप पूरा हो गया ? तत्वज्ञानी कहेगा—"जी नही, अभी तो घट का आधा स्वरूप भी आपने नही समझा !" घट इससे भी कही विराट् है। यहा तक तो घट मे सदैव रहने वाले (सहभावी) गुणो की ही बात हुई। मगर घट मे अनन्त धर्म ऐसे भी है, जो सदैव विद्यमान नहो रहते, जो उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं। ऐसे धर्म क्रमभावी धर्म कहलाते हैं। उन्हे पर्याय भी कहते हैं।

अच्छा घट, अनन्त सहभावी धर्मो और अनन्त क्रमभावी धर्मो का पिण्ड है। यह जान लेने पर तो घट का पूरा स्वरूप जान लिया, कहा जा सकता है।

तत्वज्ञानी कहेगा—"नही, यह तो घट की एक ही बाजू है। इसे सत्ता की बाजू समझिए, अभी दूसरी असत्ता की बाजू तो अछूती ही रह गई है।"

वह असत्ता की बाजू क्या है ? घट घट है, यह सत्ता की बाजू है, और घट पट नही, मुकुट नही, शकट नही, लकुट नही, कट नही, घट के सिवाय और कुछ भी नही, यह असत्ता की बाजू है। तात्पर्य यह है कि घट में घट से भिन्न जगत के समस्त पदार्थो की असत्ता रूप से जो वृत्ति है, वह भी घट का ही असत्ता रूप स्वभाव है। घटेतर पदार्थ अनन्त हैं, अतएव घट के असत्ता-धर्म भी अनन्त है।

इन सद्भाव और अभाव रूप धर्मो को जान लेना ही घट को पूरी तरह जान लेना कहलाता है। यह अनन्त धर्म ज्ञान के बिना नही जाने जा सकते। अतएव शास्त्र कहता है "जे एग जाणइ से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एगं जाणइ।" जो एक पदार्थ को जानता है, वह सब को जान लेता है, और जो सब को जानता है, वही एक को जान सकता है।

यद्यपि जगत् मे मूलभूत तत्व दो ही है। जीव-चेतनात्मक और अजीव-अचेतनात्मक, किन्तु दोनों ही अपने अपने स्वभाव मे, गुणो मे और पर्यायो मे अनन्तता से सम्पन्न है।

वात कठिन-सी मालूम होती है, मगर सत्य की आत्मा को पूरी तरह समझ लेना सरल नही है। फिर भी मनुष्य की दृष्टि सम्पन्न हो, तो दैनिक व्यवहार मे आने वाली वस्तुओ से भी वह वहुत कुछ सीख सकता है।

मिट्टी के एक कण को लीजिए। एक-एक कण मे अनन्त-अनन्त स्वभावों का सम्मिश्रण है। उसका एक स्वरूप नही, एक आस्वाद नही, एक रग-रूप नही। एक फुट वर्गाकार भूखड मे किसान कभी कडवी तीखी और चरपरी मिर्च वोता है, कभी मधुर ईख वोता है, और कभी संतरे या नीबू का पेड लगाता है। यह सभी चीजे मिट्टी के उन कणों में से ही अपना-अपना पोषण, स्वाद, रूप, रग, सव कुछ प्राप्त करती है। मिट्टी एक है। खाने मे चाहे मिट्टी का स्वाद मिट्टी जैसा है, किन्तु भिन्न बीजो की शक्ति, उसी मिट्टी मे से, अपनी अपनी शक्ति के अनुसार अपने स्वभावानुकूल अभीष्ट तत्व को खीच लेती है। ऐसी स्थिति मे अगर कोई कहता है कि मिट्टी कटुक ही है, तो उसका ऐसा कहना असत् व्याख्यान होगा, और यदि कोई यही गाठ वाध कर बैठ जाय कि मिट्टी में एक ही स्वाद होता है, और एक ही रग-रूप होता है, तो यह होगी आग्रह की जडता। यद्यपि यह कथन तत्व के नाते सापेक्ष सत्य हो सकता है, तथापि गुण और पर्याय के नाते वह मिथ्या ही रहेगा।

यह हुई जड पदार्थ की वात। अब एक चेतन पुरुष के विपय मे भी विचार कर लीजिए, एक ही पुरुप के कितने नाते होते है? वह किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का भाई, किसी का पति, श्वसुर, देवर, जेठ, मामा, भागिनेय, दादा और पोता होता है। न जाने कितने सम्वन्धो का अम्वार उस पर लदा है? परिवार के वाहर वह दुकानदार है, ग्राहक है, साहूकार है, देनदार है, गुरु है, शिष्य है, किसी सस्था का मत्री, कोषाध्यक्ष और सभापति है। न जाने क्या-क्या है? इस प्रकार एक पुरुष अनेक रूपो मे हमारे समक्ष आता है। यद्यपि पितृत्व और पुत्रत्व आदि धर्म परस्पर विरोधी जान पड़ते है। मगर अपेक्षा भेद उस विरोध का मथन कर देता है। अनेकान्त की खूबी ही यह है कि प्रतीत होने वाले विरोध का वह निवारण कर दे।

तो जिस प्रकार एक पुरुष मे परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले

पितृत्व और पुत्रत्व आदि धर्म विभिन्न अपेक्षाओ से सुसंगत होते है, उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ मे सत्ता-असत्ता, नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता आदि धर्म भी विभिन्न अपेक्षाओ से सुसगत है, और उनमे कुछ भी विरोध नही है। इस तथ्य को समझ लेना ही अनेकान्तवाद को समझ लेना है।

तत्व की विचारणा और सत्य की गवेषणा में सर्वत्र अनेकान्त दृष्टि अपनाई जाय तो धार्मिक सघर्ष, दार्शनिक विवाद, पंथों की चौकावंदी और सम्प्रदायो का कलह, मानव सस्कृति की आत्मा को आघात नही पहुचा सकना। इससे समत्वदर्शन की परम पूत प्रेरणा को वल मिलता है, और मनुष्य-दृष्टि उदार, विशाल और सत्योन्मुखी वनती है।

समाज, नीति, कला और व्यापार के क्षेत्र मे और साथ ही घरेलू सम्वन्धो मे तो अनेकान्त को स्वीकार करती है। वह एक ऐसी अनिवार्य तत्व व्यवस्था है उसे स्वीकार किये बिना एक डग भी नही चला जा सकता। फिर भी विस्मय की वात है कि दार्शनिक जगत् उसे सर्वमान्य नही कर सका। दार्शनिको की इससे वडी दूसरी कोई दुर्वलता, और असफलता शायद नही हो सकती।

कौन है जो पदार्थों का उपयोग करता हुआ, मिट्टी के नानात्व को स्वीकार न करता हो, एक ही मिट्टी घट, ईंट, प्याला आदि नाना रूपो मे हमारे व्यवहारो मे आती है। आम अपने जीवन काल मे अनेक रूप पलटता रहता है। कभी कच्चा, कभी पक्का, कभी हरा और कभी पीला, कभी कठोर और कभी नरम, कभी खट्टा और कभी मीठा होता है। यह उसकी स्थूल अवस्थाएँ है। एक अवस्था नष्ट होकर दूसरी अवस्था की उत्पत्ति मे दीर्घ काल की अपेक्षा होती है। मगर उस वीच के दीर्घ काल मे क्या वह आम ज्यो का त्यो वना रहता है। और सहसा हरे से पीला तथा खट्टे से मीठा हो जाता है ? नही, आम प्रतिक्षण अपनी अवस्थाए पलटता रहता है। मगर वे क्षण-क्षण पलटने वाली अवस्थाएं इतने सूक्ष्म अन्तर को लिए हुए होती है कि हमारी वुद्धि मे नही आती। जव वह अन्तर स्थूल हो जाता है तभी बुद्धि-ग्राह्य वनता है।

इस प्रकार असख्य क्षणो में असख्य अवस्था-भेदो को धारण करने वाला आम आखिर तक आम ही वना रहता है।

इस तथ्य को जैनदर्शन यो व्यक्त करता है कि—पदार्थ की मूल सत्ता ही, जो एक होने पर भी अनेक रूप धारण करती है, पदार्थ का मूल रूप है-द्रव्य है, और उसके क्षण-क्षण पलटने वाले रूप पर्याय है। उसका निष्कर्ष यह

निकला कि प्रत्येक पदार्थ के दो रूप है :—अन्तरग और वहिरंग। अन्तरग द्रव्य, और वहिरंग रूप पर्याय कहलाता है। पदार्थ का अन्तरंग रूप एक है, नित्य है, अपरिवर्तनशील है, और वहिरग रूप अनेक, अनित्य और परिवर्तनशील है।

द्रव्य परस्पर विरुद्ध अनन्त धर्मो का समन्वित पिण्ड है। चाहे वह जड हो या चेतन, सूक्ष्म हो या स्थूल, उसमें विरोधी धर्मों का अद्भुत सामंजस्य है। इसी सामजस्य पर पदार्थ की सत्ता टिकी है। ऐसी स्थिति मे वस्तु के किसी एक ही धर्म को अगीकार करके और दूसरे धर्मो का परित्याग करके वास्तविक वस्तु स्वरूप को आंकने का प्रयत्न करना उपहासास्पद है, और अपूर्णता मे पूर्णता मानकर सन्तोष कर लेना प्रवचनामात्र है।

अनेकान्तवादी का दृढ विश्वास है कि सत् का कभी नाश नही होता, और असत् की कभी उत्पत्ति नही होती। मिट्टी का मूल द्रव्य नवीन वनाया जा सकता है। हा, उसका रूपान्तर स्वतः भी और दूसरो के प्रयोग से भी होता रहता है।

वस यही द्विविधात्मक पदार्थ की स्थिति है, जिसे ऐकान्तिक आग्रह से नही समझा जा सकता।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु के विचार मे उठे हुए अनेकविध दृष्टिकोणो को समुचित रूप से समन्वित करने की आवश्यकता होती है। उसी आवश्यकता ने नयवाद की विचार सरणि को प्रस्तुत किया है।

स्याद्वाद

पिछले प्रकरण मे अनेकान्तवाद के विषय मे विचार किया गया है। पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणो से वस्तु को समझना और एक ही वस्तु मे, विभिन्न दृष्टिकोणो से सगत होने वाले किन्तु परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक धर्मो को प्रामाणिक रूप से स्वीकार करना अनेकान्तवाद है। साधारण तौर पर अनेकान्त सिद्धान्त ही स्याद्वाद कहलाता है, किन्तु वास्तव मे अनेकान्त-सिद्धान्त को व्यक्त करने वाली सापेक्ष भाषापद्धति ही स्याद्वाद है।

जव हम मान लेते है कि प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म विद्यमान है और उन समस्त धर्मों का अभिन्न समुदाय ही वस्तु है, तो उसे व्यक्त करने के लिए भाषा की भी आवश्यकता होती है। यह अनेकान्त की भाषा ही स्याद्वाद है।[1]

---

१ स्याद् इत्यव्ययम् अनेकान्त–द्योतकं, तत स्याद वाद अनेकान्तवादः।
—स्याद्वाद मञ्जरी, मल्लिषेणसूरि।

भाषा शब्दों से बनती है, और शब्द धातुओ से बनते है। एक धातु भले ही मोटे तौर पर अनेकार्थक मानी जाती हो, परन्तु एक काल मे, और एक ही प्रसग मे, वह अनेक अर्थों का द्योतन नही कर सकती, अतएव उससे बना एक शब्द भी एक ही धर्म का बोध कराता है। हमारे पास कोई एक शब्द नही, जो एक साथ अनेक धर्मो का प्रतिपादन कर सके। अतएव यह आवश्यक है कि वस्तु के अस्तित्व, नास्तित्व आदि धर्मो का सापेक्षात्मक भाषा से कथन किया जाय। 'घट है' कह कर हम घट के परिपूर्ण स्वरूप को व्यक्त नही कर सकत, क्योकि इस वाक्य द्वारा घट के केवल अस्तित्व धर्म का ही बोध होता है। घट मे अस्तित्व की तरह नास्तित्व आदि जो असख्य धर्म है, उनका इससे बोध नही होता। अतएव यह वाक्य घट की अधूरी जानकारी देता है। यही नही, घट मे जो अस्तित्व है, वह भी सर्वथा सत्य नही, किन्तु एक दृष्टिकोण से ही है। यह बात भी इस वाक्य से ध्वनित नही होती।

प्रश्न होता है कि एक ही शब्द एक धर्म का बोधक होता है, किन्तु वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसका किसी भी एक शब्द द्वारा कथन नही किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे दो ही बाते हो सकती है—या तो एक वस्तु को पूरी तरह कहने के लिए अनन्त शब्दो का प्रयोग किया जाय, अथवा मौन साधकर बैठा जाय। अनन्त शब्दो का प्रयोग करना सभव नही है, और मौन साध लेने से जगत् के सब व्यवहार ठप्प हो जाते है। फिर अपने अभिप्राय को प्रकट करने का मार्ग क्या है ?

जैन दार्शनिको ने बहुत विस्तार से इस प्रश्न का उत्तर दिया है। यहाँ सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि—स्याद्वादी जब वस्तु का अस्तित्व प्रकट करता है तो वह केवल 'अस्ति' (है) न कह कर 'स्यादस्ति' कहता है। 'अस्ति' के साथ 'स्यात्' जोड देने से वस्तु मे रहे हुए नास्तित्व आदि का निषेध भी नही होता और अस्तित्व का विधान भी हो जाता है।

'स्याद्वाद' शब्द स्यात्' और 'वाद' इन दोनो शब्दो के मेल से बना है। 'स्यात्' एक अव्यय है, जिसका अर्थ है—"कथचित्"—किसी अपेक्षा, अथवा अमुक दृष्टिकोण से। कुछ लोगो को भ्रम है कि 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' है और इस कारण स्याद्वाद सशयवाद है। मगर यह उनका भ्रम है। 'स्याद्वाद' मे जो कुछ है, 'निश्चित' है। "यह पिता है अथवा पुत्र है" इस प्रकार अनिर्णीत ज्ञान सशय कहलाता है, मगर "यह व्यक्ति अपने पिता कर्मचन्द की अपेक्षा से

पुत्र है, और अपने पुत्र देवदास की अपेक्षा से पिता है" इस प्रकार सापेक्ष कथन मे सशय के लिए कोई अवकाश नही है।

प्रत्येक वस्तु में अपने निज के स्वरूप से सत्ता है तो पर के रूप से असत्ता भी है। 'घट घट है', यह जितना सत्य है उतना ही सत्य यह भी है कि 'घट पट नहीं है।' यहां जैसे घटविषयक अस्तित्व घट का ही स्वरूप है, उसी प्रकार पट विषयक नास्तित्व भी घट का ही स्वरूप है अतएव प्रत्येक पदार्थ सत्-असत् रूप है।

इसी प्रकार घट न एकान्त रूप से नित्य है, और न एकान्त रूप से अनित्य है। द्रव्य के लिहाज से नित्य है, तो पर्याय के लिहाज से अनित्य है।[1]

इस प्रकार वस्तु मे जितने भी धर्म है, सब सापेक्ष है। जिस अपेक्षा से जिस धर्म का विधान किया जाता है, उसी अपेक्षा को सूचित करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इस छोटे-से "स्यात्" अव्यय मे अद्भुत चमत्कार भरा है। यह समस्त विरोधियो को नष्ट कर देता है, और हमें सम्पूर्ण सत्य की झाकी दिलाता है।

तात्पर्य यह है कि अनेकान्तात्मक वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को प्रकट करने के लिए "स्यात्" शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

जब हम वस्तु को नित्य कहते है तो हमे किसी ऐसे शब्द का प्रयोग करना चाहिए, जिससे उसमे रही हुई अनित्यता का निषेध न हो जाय। इसी प्रकार जब "अनित्य" कहते है तब भी ऐसे शब्द का प्रयोग करना उचित है जिससे नित्यता का विरोध न हो जाय। यही बात अन्य धर्मो—सत्ता, असत्ता, एकत्व, अनेकत्व आदि—का कथन करते समय भी समझनी चाहिए। सस्कृत भाषा में ऐसा शब्द "स्यात्" है। "कथचित्" शब्द का भी उसके स्थान पर प्रयोग होता है।

किसी भी प्रश्न का उत्तर "हा" या "ना" मे दिया जाता है। इन्ही दोनो के आधार पर सप्तभंगी योजना हुई है। वह सात भग यह है —

१ अस्ति—(है)

---

१ नत्थि जीवा अजीवा वा, णेव सन्नं निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्न निवेसए॥
—सूत्रकृताग, अ० २, ५, १२, १३।

२. नास्ति–(नही है)

३. अस्तिनास्ति–(है, नही है)

४. अवक्तव्य–(नही कहा जा सकता)

५ अस्ति अवक्तव्य–(है, नही कहा जा सकता)

६. नास्ति अवक्तव्य–(–नही है, नही कहा जा सकता)

७. अस्ति, नास्ति अववतव्य–(–नही है, अवक्तव्य है)

१. **स्यादस्ति**—प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल, और अपने भाव से है।

२. **स्यान्नास्ति**—प्रत्येक वस्तु पर द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से नही है।

इन दोनो भगो का आशय यह है कि घट (और समस्त पदार्थ) है तो, अवश्य, परन्तु वह घट मिट्टी द्रव्य की अपेक्षा से है, जिस जगह है उसी जगह है, जिस काल मे है, उसी काल की अपेक्षा से है और अपने स्वरूप से है। वह घट परद्रव्य से नही है[1] अर्थात् वह सुवर्ण द्रव्य की अपेक्षा नही है—सोने का नही है, जहा है उसके सिवाय दूसरी जगह नही है, जिस काल मे है, उससे भिन्न काल में नही है, और जिस रूप में है, उससे भिन्न रूप मे नही है।

यह दो भग ही अगले पाचो भगो के आधार है। इन्ही के सम्मिश्रण से उनका निर्माण हुआ है।

३ **स्यात्, अस्तिनास्ति**—इस भग के द्वारा वस्तु का उभयमुखी कथन किया जाता है, अर्थात् यह प्रकट किया जाता है कि वस्तु क्या है, और क्या नही है? प्रथम भग केवल अस्तित्व का और दूसरा भग केवल नास्तित्व का विधान करता है, जब कि यह भग दोनो का विधान करता है।

४ **स्यात्, अवक्तव्य**—प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक होने से सदा अवक्तव्य है। उसका परिपूर्ण स्वरूप किसी भी शब्द द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता। किसी शब्द मे सामर्थ्य नही जो अनन्त धर्मो का कथन कर सके।

---

१ अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे णो आया। भगवती, श० १२, उ० १०, पा० १०।

यही नहीं, पहले और दूसरे भंग मे जिन अस्तित्व और नास्तित्व का विधान किया है, उनका भी एक साथ कथन नही हो सकता। यही बतलाने के लिए चौथा भंग है।

५. अस्ति, अवक्तव्य—स्वरूप से सत् होने पर भी वस्तु समग्र रूप से अवक्तव्य है।

६ नास्ति अवक्तव्य—पर रूप मे असत् होते हुए भी वस्तु समग्र रूप मे अवक्तव्य है।

७ अस्तिनास्ति, अवक्तव्य—स्वरूप से सत् और पररूप से असत् होने पर भी वस्तु समग्र रूप में अवक्तव्य है।

इस विषय को व्यावहारिक पद्धति से समझने के लिए एक स्थूल उदाहरण दिया जाता है। आप किसी रोगी की हालत पूछने के लिए गए। आपने पूछा "रोगी का क्या हाल है ?" इस प्रश्न का उत्तर सात विकल्पो (भंगो) मे यो दिया जा सकता है :—

१ स्वास्थ्य ठीक है (अस्ति)।

२. अभी अवस्था ठीक नही (नास्ति)।

३. कल से अब ठीक है, तो भी भय से मुक्त नही (अस्तिनास्ति)।

४. कुछ कहा नही जा सकता कि हालत ठीक है, या नही (अवक्तव्य)।

५. हालत कुछ ठीक है; परन्तु कहा नही जा सकता कि आखिर क्या होगा ? (अस्ति अवक्तव्य)।

६ हालत ठीक नही, नही कहा जा सकता कि आखिर क्या होगा (नास्ति अवक्तव्य)।

७ हालत कल से ठीक है, फिर भी ठीक नही कही जा सकती। नही कह सकते आखिर क्या होगा ? (अस्तिनास्ति अवक्तव्य)।

इस प्रकार वस्तु मे रहे हुए प्रत्येक धर्म का सात प्रकार से कथन हो सकता है। जैसे अस्तित्व धर्म के सात भग ऊपर वतलाए गए हैं, उसी प्रकार नित्यत्व, एकत्व आदि धर्मो को लेकर भी होते है। पूर्वोक्त रीति से उन्हे समझा जा सकता है।

विश्व की विचारधाराए एकान्त के कीचड मे फसी है। कोई वस्तु को एकान्त नित्य मानकर चल पड़ा है तो दूसरा एकान्त अनित्यता का समर्थन

कर रहा है। कोई इससे आगे बढा भी तो उसने वस्तु के नित्यानित्य स्वरूप को गडवड़झाला समझ कर अव्याकृत या अवक्तव्य कह कर पिण्ड छुडा लिया फिर भी इन सब ने अपने मन्तव्य की पूर्ण सत्यता पर वल दिया, यही संघर्ष का कारण वना।

जैन दर्शन अनेकान्त के रूप मे तत्वज्ञान की यथार्थ दृष्टि प्रदान कर एक ओर सत्य का दिग्दर्शन करता है, तो दूसरी ओर दार्शनिक जगत् मे समन्वय के लिए सुन्दर आधार तैयार करता है।

स्याद्वाद जैन दर्शन का प्राण है और उसके प्रत्येक विधान मे स्याद्वाद का पुट रहता है[1] सूत्रकृताग सूत्र मे निर्देश किया गया है कि साधु को विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् स्याद्वाद पद्धति का अवलम्बन लेना चाहिए। भगवान् महावीर ने चौदह प्रश्नो के उत्तर, जिन्हे बुद्ध "अव्याकृत" कहते थे, और उपनिषदो के रहस्यपूर्ण गूढप्रश्नो के उत्तर, स्याद्वाद पद्धति का अवलम्बन करके दिये है।

भाषा नीति-निक्षेप विधान

जगत् के व्यवहार और ज्ञान के आदान-प्रदान का मुख्य साधन भाषा है। भापा के विना मनुष्यो का व्यवहार नही चल सकता और न विचारों का आदान-प्रदान हो सकता है। मनुप्य के पास अगर व्यक्त भाषा का साधन न होता तो उसे आज जो सभ्यता, संस्कृति और तत्वज्ञान की अमूल्य निधि प्राप्त हुई है, उसकी कल्पना करना भी अशक्य होता व मनुष्य और पशु मे अधिक अन्तर न रह जाता।

भापा केवल बोलने का ही साधन नही, अपितु विचार करने का भी माध्यम है। जन्मगत परिपुप्ट भाषा, जो हमारे अन्त करण मे सुदृढता से स्थित हो जाती है, उसी मे हम चिन्तन-मनन करते है।

भापा का शरीर वाक्यो से निर्मित होता है और वाक्य शव्दो से। प्रत्येक शव्द के अनेक अर्थ हो सकते है। प्रत्येक स्थान पर प्रयुक्त हुआ शव्द, प्रसंग, आशय, विपय, स्थान, अवसर और वातावरण के अनुसार कितने ही प्रकार के अभिप्रायो को अभिव्यक्त करता है। अतएव शव्द के मूल और उचित अर्थ

---

१. स्याद्वाद मंजरी, कारिका, ५।

को जानने के ढंग जैनागमों में निश्चित किये गये हे। शब्दो की मार्मिकता, लाक्षणिकता, प्रांजलता और अभिव्यजनाशक्ति का विस्तृत विवेचन व्याकरण और साहित्य विषयक ग्रन्थो में उपलब्ध होता है।

शब्द द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का ठीक तरह कैसे ज्ञान किया जाय, इसके लिए जैनधर्म में निक्षेप का विधान किया गया है। निक्षेप का सामान्य अर्थ है—निक्षेपण करना, या रखना। भगवान् महावीर कहते हैं कि शब्द के विवक्षित अर्थ को जानने के लिए अनेको प्रकार के निक्षेपो का विधान हो सकता है, किन्तु कम-से-कम चार निक्षेपो से काम चल सकता है, क्योकि, प्रत्येक शब्द कम-से-कम चार अर्थों मे तो प्रयुक्त होता ही है।

वक्ता या लेखक, शब्द को प्राय' चार प्रकार के अर्थो के लिए प्रयुक्त करता है—नाम, स्थापना, द्रव्य अथवा भाव[1]। इन चार अर्थो मे से शब्द को वक्ता द्वारा विवक्षित अर्थों मे निक्षेपण करना ही निक्षेप कहलाता है। भाषा के प्रत्येक शब्द पर उन्हे घटित किया जा सकता है यहा "राजा" शब्द को ही लीजिए।

१. नामनिक्षेपः—माता-पिता ने अपने पुत्र का नाम "राजा" रख दिया। वास्तव मे वह राज्य का उपभोग नही करता, यहा तक कि राजतत्र का विरोधी है, उसमे राजा के योग्य गुण भी नही है, फिर भी वह राजा कहलाता है। ऐसे व्यक्ति को जब राजा कहा जाता है तो वह नाम निक्षेप से राजा कहलाता है।

नामनिक्षेप मे वस्तु के गुण-धर्म का विचार नही किया जाता, केवल लोकव्यवहार की सुविधा के लिए शब्द रूढ कर लिया जाता है। इस कारण "राजा" नाम वाला पुरुष राजा शब्द के पर्यायवाचक नृपति, भूपति, नरेश आदि शब्दो द्वारा अभिहित नही किया जाता।

नाम-शब्द तीन प्रकार के होते है—

१ यथार्थ नाम, जैसे जल मे उत्पन्न होने के कारण 'जलज' चैतन्यवान होने के कारण 'चेतन' आदि नाम।

२ अयथार्थ—जैसे अन्धे का नाम नयन सुख अथवा हीराचन्द, मोतीचन्द आदि।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र, सूत्र ८, तत्वार्थसूत्र अ० १, ५,

३ अर्थ शून्य नाम, जैसे वाद्यध्वनि, खासी, छीक आदि ।

२. **स्थापनानिक्षेप**—किसी वस्तु म अन्य वस्तु का आरोप करना स्थापनानिक्षेप है । जैसे—राजा की मूर्ति या उसका चित्र भी राजा कहलाता है । यद्यपि उस मूर्ति या चित्र मे राजा का कोई गुण नही है, तथापि उसमे राजा का आरोप किया जाता है जब कोई राजा की मूर्ति को राजा कहता है तो समझना चाहिए कि वह स्थापना निक्षेप है ।

स्थापनानिक्षेप के लिए प्राचीन युग मे काष्ठ, मृत्तिका, वस्त्र, प्रस्तर पत्र आदि पर चित्र बना कर अथवा अन्य प्रकार से किसी एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का आरोप किया जाता था। आज भी मूर्ति या स्टैचु आदि बनाये जाते है।

३ **द्रव्यनिक्षेपः**—जो पहले राजा था, अथवा भविष्य मे राजा बनने वाला है, वर्तमान मे नही है, उसे भी राजा शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इस प्रकार भूतकालीन या भविष्यत्कालीन पर्याय का वर्तमान मे आरोप करना द्रव्यनिक्षेप कहलाता है।

४ **भावनिक्षेपः**—जो मनुष्य राज्य कर रहा है, वह भी राजा कहलाता है। इस प्रकार वर्तमान पर्याय को लक्ष्य में रखकर जब शब्द का प्रयोग किया जाता है, तो उसे भावनिक्षेप कहते है । जब व्युत्पत्तिनिमित्त अथवा प्रवृत्ति-निमित्त से वर्तमान मे पूरा अर्थ घटित होता है, तभी वह भावनिक्षेप कहा जा सकता है।

अप्रकृत अप्रस्तुत और अविवक्षित अर्थ का निराकरण करके प्रकृत प्रस्तुत, और विवक्षित अर्थ का विधान करना निक्षेपविधि का प्रयोजन है।

जहा कही, "महावीर" शब्द आया कि आप भगवान् महावीर को ही समझ ले तो बहुत बार अनर्थ होने की सम्भावना है । इस अनर्थ से बचने के लिए अगर आप निक्षेपविधि से "महावीर" शब्द का विश्लेषण कर डालें, और समझ लें कि वक्ता का नाम—महावीर, स्थापना-महावीर, द्रव्य महावीर, और भाव महावीर मे से किस महावीर से अभिप्राय है, तो आप सही अभिप्राय समझ सकेंगे, और अनर्थ से बच जाएगे। इसी उद्देश्य से जैन शास्त्रो मे निक्षेपो का विधान किया गया है।

स्मरण रहे कि चारो निक्षेपो मे से भावनिक्षेप को ही महत्वपूर्ण एवं सार्थक स्वीकार किया गया है ।

एगप्प अजिए सत्तू कसाया इन्दियाणि य।
ते जिणित्ता जहा नायं, विहरामि अहं मुणी ॥
मनो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्म सिक्खाइ कन्थगं ॥

—उत्तराध्ययन अ० २३, गा० ३८-५८।

हे महा मुने! मन एक दुर्जय शत्रु है, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कपाय तथा श्रोत, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्श ये पाञ्चो इन्द्रिया मिलकर दस शत्रु बनते है। इन्हे मैंने ठीक रूप से जीत लिया है अत. आनन्द मे विचरता हूँ।

हे साधक! मन बहुत ही साहसिक, रौद्र और दुष्ट अश्व है, जो चारो ओर दौड़ता है। मै इस अश्व को धर्म शिक्षा द्वारा अच्छी तरह काबू करता हूँ।

मनोविज्ञान

मनोविज्ञान

इन्द्रियां

प्राणी काम और भोग का आयतन है। काम मूर्त और अरूपी है, किन्तु भोग, रूपी और अरूपी दोनो प्रकार का होता है। काम, कामना और स्पृहा का अस्तित्व जीव में ही उपलब्ध होता है। जड से जीव की भिन्नता काम से भी पाई जाती है, क्योकि काम का अस्तित्व जीव मे ही है, अजीव मे नही होता। जीव ही कामी और भोगी बन सकता है, अजीव नही। काम के दो रूप है, रूप और शब्द। मनोज्ञ रूप और मधुर शब्दो की लालसा ही काम है। यद्यपि रूप और शब्द दोनो ही पौद्‌गलिक परिवर्तित पर्याय है, और भोग तीन प्रकार का होता है। १ गध, २ रस, ३ स्पर्श।

काम और भोग मे सबसे बडा अन्तर यह है कि भोग सयोग की अपेक्षा रखता है। गध, रस और स्पर्श के सयोग हुए बिना भोग का कारण नही बन सकते, किन्तु रूप और शब्द मे सयोग की अधिक अपेक्षा नही रहती। यद्यपि शास्त्रकारो ने शब्द को भी भोग के अन्दर ही गिना है, क्योकि शब्दो का सयोग कर्णेन्द्रिय के साथ हुए बिना शब्द का आनन्द नही लिया जा सकता, किन्तु सूक्ष्मता के कारण उसे काम मे भी गिन लिया जाता है। हा, पाचो इन्द्रियो मे से नेत्र इन्द्रिय को कुछ भिन्न प्रकार का माना गया है, क्योकि नेत्र वस्तु के ससर्ग

की अपेक्षा प्रकाश तथा रग के सहारे ही वस्तु-दर्शन की ज्ञानानुभूति कर लेती है।

काम भोग केवल पाँच ही प्रकार का है, अतः इन्हे ही पाँच इन्द्रिया कहा जाता है। यद्यपि वैदिक साहित्य मे पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय रूप से इन्द्रियो के दश भेद माने गए है, और बौद्ध साहित्य मे इन्द्रियों के २२ भेद गिनाए गए है, किन्तु जैन धर्म इन सभी प्रकार के इन्द्रिय भेदो का पाँचों इन्द्रियो मे समावेश कर देता है। जैसे कि पाँचो कर्मेन्द्रियो को, (वाक्, पाणि, पाद पायु और उपस्थ) स्पर्शेन्द्रिय का ही अवान्तर भेद मान लिया गया है, क्योकि इन का मूलाधार त्वग् इन्द्रिय माना गया है। त्वचा ज्ञान तन्तु अर्थात् छोटे-छोटे छिद्र स्पर्श का सवेदन करते है, और छिद्रो तथा रोम कूपो के द्वारा त्वचा के ज्ञान तन्तु वस्तु के स्पर्श का अनुभव कर लेते ह। अत. वाक-पाणि आदि शरीर के अवयवो को पृथक् इन्द्रिय मानने की आवश्यकता नही रहती। इन्द्रियो का द्रव्यरूप मूर्त है, और आत्मा सर्वथा अमूर्त।

अमूर्त होने के कारण हमे आत्मा की साक्षात् उपलब्धि नही होती। फिर भी जिन साधनो से हम आत्मा को जानते है, वही साधन 'इन्द्रियाँ' है। एक शरीर को देखते ही हम पहचान लेते है कि यह निर्जीव है, और दूसरे पर दृष्टि पडते ही हमे ज्ञान हो जाता है कि यह सजीव है। निर्जीव कलेवर मे भी इन्द्रियाँ बनी होती है, मगर वे अपना कार्य नही करती, जब कि सजीव शरीर मे सब इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करती रहती है। कान सुनते है, आँख देखती है, नाक सूँघती है, हाथ-पैर हिलते है। इन्द्रियो का यह व्यापार आत्मा के अस्तित्व का परिचायक है।

इन्द्रियाँ आत्मा के अस्तित्व की परिचायक नही, आत्मा के द्वारा होने वाले सवेदन का साधन भी है। यद्यपि आत्मा स्वभावत अनन्त ज्ञान दर्शनपुज है, तथापि आवरणो के कारण इतना निर्बल बन गया है कि उसे इन्द्रियो का अवलम्बन लेना पडता है। अतएव आत्मा की रूपादिविषयक उपलब्धि का साधन भी इन्द्रियाँ ही है।

[1]इन्द्रियाँ पाँच ह—(१) श्रोत्र, (२) चक्षु, (३) घ्राण, (४) रसना और (५) स्पर्शन।

---

१. नन्दिसूत्र, सूत्र ३०, स्थानांग सूत्र, स्था० ५।

जैन तर्कशास्त्र मे इन्द्रियो की न्यूनाधिक सख्या का निरसन किया गया है, और भली-भाँति सिद्ध किया गया है कि यह पाँचो इन्द्रियाँ परस्पर कथचित् भिन्न-भिन्न है, और आत्मा के साथ भी इनका कथचित् भेद और अभेद ही है।

पाचो इन्द्रिया दो-दो प्रकार की है[1]—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इन्द्रियो का वाह्य पौद्गलिक रूप द्रव्येन्द्रिय कहलाता है, और आन्तरिक चिन्मय रूप भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रिय के भी दो भाग है[2] 'निवृत्ति' अर्थात् इन्द्रियो की विविध आकार की रचना, और 'उपकरण' अर्थात् संवेदन मे सहायक स्वच्छ पुद्गलो की शक्ति। यो तो जैनाचार्यों ने इन्द्रियो के सम्बन्ध मे भी काफी गहन विचार प्रदर्शित किए है और निवृत्ति-इन्द्रिय का भी वाह्य निवृत्ति और आन्तरिक निवृत्ति के रूप मे विश्लेषण किया है, परन्तु हम यहाँ उस गहराई मे नही उतरना चाहते।

आत्मा की संवेदनात्मक शक्ति और सवेदना का व्यापार भावेन्द्रिय है, जिसे क्रमशः लब्धि और उपयोग का नाम दिया गया है।[3] आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली शक्ति लब्धि भावेन्द्रिय है, और उस शक्ति का व्यापृत होना उपयोगभावेन्द्रिय है।

नेत्र इन्द्रिय अन्य इन्द्रियो से कुछ भिन्न प्रकार की है। चार इन्द्रियाँ वाह्य पदार्थों के अर्थात् अपने-अपने विषय के ससर्ग से उत्तेजित होकर अपने ग्राह्य विषय को ग्रहण करती है, किन्तु नेत्र को ससर्ग की आवश्यकता नही होती। वह प्रकाश एव रग के आधार से ही सवेदन करती है। इस प्रकार चार इन्द्रियाँ 'प्राप्यकारी' और चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी[4] है।

इन्द्रियो के विषय—[5]श्रोत्रेन्द्रिय का विषय शब्द है। शब्द तीन प्रकार का माना गया है—जीव का शब्द, अजीव का शब्द और मिश्रशब्द।

शब्द [6]एक प्रकार के पुद्गल परमाणुओ का कार्य है। वह परमाणु

---

१. प्रज्ञापनासूत्र इन्द्रियपद १५वा। २ प्रज्ञापना, इन्द्रियपद १५वा।
३ प्रज्ञापना सूत्र, इन्द्रियपद, १५वा। ४ तत्वार्थ सूत्र, १।१९।
५ प्रज्ञापना सूत्र, इन्द्रियपद १।१९। ६ प्रज्ञापना सूत्र भावापद १।१९

सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त है। जब वक्ता बोलता है, तो वे पुद्गल शब्द रूप मे परिणत हो जाते है और एक ही समय मे लोक अन्तिम छोर तक पहुँच जाते है। उसकी गति का वेग हमारी कल्पना से भी बाहर है।

जमीन पर बनी पगडडियो की तरह आकाश मे भी श्रेणिया है, जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा ऊपर और नीचे की ओर फैली है। वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द इन श्रेणी रूप मार्गो से फैलता है।

श्रोता यदि समश्रेणी मे स्थित हो तो भी वह कोरे वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द नही सुनता, बल्कि वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्द-द्रव्यो तथा उन शब्दद्रव्यो से वासित हुए बीच के शब्द द्रव्यो के सघर्ष से उत्पन्न मिश्रशब्दो को सुनता है।

भिन्न श्रेणी मे स्थित श्रोता मिश्र शब्द भी नही सुन पाता। वह उच्चारित मूल शब्दो द्वारा वासित शब्द ही सुन सकता है।

वक्ता द्वारा उच्चारित या भेरी आदि से उत्पन्न शब्दो के सघर्ष से बीच मे स्थित भाषावर्गणा के पुद्गल शब्द रूप मे परिणत हो जाते है। वे वासित शब्द कहलाते हैं।

विश्रेणी मे दूसरे-तीसरे समय मे ही शब्द सुनाई देता है पर जैन मान्यता के अनुसार बोला हुआ शब्द दूसरे समय मे सुनने योग्य नही रह जाता। इससे अनुमान होता है कि विश्रेणी मे सुनाई देने वाले शब्द वक्ता द्वारा उच्चारित मूल शब्द नही है, वरन् उस शब्द द्वारा वे शब्द रूप मे परिणत किए हुए दूसरे ही शब्द है।

जल मे पत्थर डालने से एक लहर उत्पन्न होती है। वह लहर अन्य लहरो को उत्पन्न करती हुई जलाशय के अन्त तक जा पहुँचती है। इसी प्रकार वक्ता द्वारा प्रयुक्त भाषाद्रव्य अग्रसर होता हुआ आकाश मे स्थित अन्यान्य भाषायोग्य पुद्गलो को भाषा के रूप मे परिणत करता हुआ लोकान्त तक चला जाता है। लोकान्त मे पहुँचते ही उसकी श्राव्य-शक्ति समाप्त हो जाती है; परन्तु अन्यान्य भाषाद्रव्यो को शब्द रूप में परिणत कर देता है और वे नवीन उत्पन्न हुए शब्द, मूल तथा मिश्र शब्दो की प्रेरणा से गतिमान् होकर विश्रेणियो की ओर अग्रसर होते है। इस प्रकार सिर्फ चार समयो मे सम्पूर्ण लोकाकाश इन शब्दो मे व्याप्त हो जाता है। (विशेष जानकारी के लिए देखिए—प्रज्ञापना सूत्र, भाषापद)।

चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है। रूप काला, नीला, पीला, लाल और श्वेत—पाच प्रकार है। शेष सब रूप इन्ही के सम्मिश्रण के परिणाम है।

गधसवेदन का अनुभव नासिका द्वारा प्राप्त होता है। जब वायु के साथ रासायनिक गंध कण नासिका मे प्रविष्ट होते है तो वह घ्राण के रोम कूपो को उत्तेजित करते है। उनकी उत्तेजना से आत्मा को घ्राण अनुभव होता है। यदि नासिका के दोनो पुट बद कर दिये जाए, तो गध की अनुभूति नही होती, इससे साफ जाहिर है कि आत्मा को गध सवेदन घ्राण द्वारा ही होता है। यद्यपि गधसंवेदन अनेक प्रकार के होते है तथापि उन सब का समावेश सुगध और दुर्गंध में ही हो जाता है।

रस का सवेदन रसना से होता है। रसना या जीभ तरल पदार्थ अथवा लार-मिश्रित पदार्थ के सम्पर्क से जब उत्तेजित हो उठती है, तभी वह अपने ज्ञानतन्तुओ द्वारा रस-सवेदना उत्पन्न करती है।

रस पाच प्रकार का है। अम्ल, मधुर, कटुक, कषायला और तीक्ष्ण। अतएव रस-सवेदन भी पाच ही प्रकार का माना गया है।

स्पर्शानुभूति मे स्पर्शन इन्द्रिय निमित्त होती है स्पर्शेन्द्रिय का द्रव्यरूप समग्र त्वचा है। आठ प्रकार के स्पर्श ही इस इन्द्रिय के विषय है, जो इस प्रकार है—उष्ण, रूक्ष शीत, चिक्कण, हल्का, भारी, कर्कश और कोमल।

मन

मानव जीवन मे मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आत्मा के उत्थान और पतन का भी वह प्रधान कारण है। इसीलिए विभिन्न आध्यात्मिक परम्पराए भी एक स्वर से मनोविजय की अनिवार्य आवश्यकता उद्घोषित करती है, और साथ ही मनोविजय को दुश्शक्य कार्य स्वीकार करती है। गीता में श्रीकृष्ण स्वीकार करते है कि मन बडा बलशाली है, और जैसे हवा पर काबू पाना सरल नही, उसी प्रकार मन पर काबू पाना भी हसी-खेल नही। उत्तराध्ययन, अध्याय २३, गाथा ५८ मे इन्द्रभूति गौतम जैसे महाश्रमण भी मन को साहसी, भयानक और दुष्ट अश्व के समान बतलाकर वही बात कहते है।

वास्तव मे मन बडा जबर्दस्त है। वह बडे-बडे योगियो को भी ऐसा नाच नचाता है, जैसे मदारी बन्दर को। कितने ही साधक मन पर नियत्रण पाने के लिए अरण्यवास अगीकार करते है, परन्तु मन क्षण भर मे उन्हे विलासमय राजप्रासाद मे लाकर खडा कर देता है, और अरण्य मे साधक का सिर्फ कलेवर ही रह जाता है। कोई-कोई साधक उसे जीतने के लिए कटकशय्या अगीकार करते है, परन्तु मन उन्हे सुखद और सुकोमल सेज पर पौढा देता है। कटक-

शय्या पर उनकी लाश ही धरी रहती है। साधक चाहता है कि मैं साम्यभाव के सरोवर मे अवगाहन करू, मगर मन उसे राग-द्वेष के कीचड मे फसा देता है।

मन मे अद्भुत मोहिनी शक्ति है। जो उसे नियत्रित करना चाहता है, उसी को वह अपने नियत्रण मे ले लेता है, और उस पर मनचाहा शासन करता है।

इस प्रकार मन अपरिमित बलशाली है। फिर भी गौतम स्वामी कहते है—'मन दुर्जय होने पर भी अजेय नही। वह धर्मशिक्षाओ के प्रयोग द्वारा जीता जा सकता है।' शास्त्र मे वैराग्य और अभ्यास के द्वारा उसके विजय की शक्यता स्वीकार की है।

प्रश्न होता है—'जिसके सामने बड़े-बड़े पहुचे हुए योगी भी नतमस्तक हो जाते है, और हार मान बैठते है, परन्तु जिस पर विजय प्राप्त किये बिना साधक की गाड़ी-अगाड़ी नही बढ सकती, वह मन क्या है?'

इन्द्रियो की भाति मन भी आत्मा के सवेदन का एक साधन है। पर वह इन्द्रिय नही, अनिन्द्रिय अथवा नोइन्द्रिय कहलाता है। इन्द्रिया अपने-अपने नियत विषय को गोचर करती है, जैसे श्रोत्र शब्द सुनता है, आख रूप को ही और नाक गध को ही ग्रहण करती है, परन्तु मन सर्वार्थग्राहक है। वह रूप, रस, गध, स्पर्श, शब्द आदि सभी विषयो में और साथ ही अमूर्त्त पदार्थों मे भी प्रवृत्ति करता है। इन्द्रियो द्वारा सीमित क्षेत्र में ही विषय की उपलब्धि हो सकती है, परन्तु मन के लिए क्षेत्र की कोई मर्यादा नियत नही है। वह क्षण भर मे स्वर्ग, नरक आदि अखिल विश्व का चक्कर काट आता है।

भगवान् महावीर ने कहा—"हे गौतम! मन जड़ भी है और चेतन भी है। मन के दो रूप है—पौद्गलिक और चैतन्यमय। पौद्गलिक मन द्रव्यमन कहलाता है, और चैतन्यमय मन भावमन। द्रव्य मन विचार करने मे सहायक होने वाले विशेष प्रकार के पुद्गल परमाणुओ की रचना-विशेष है, और उन परमाणुओ मे प्रवाहित होने वाली आत्मा की चैतन्यधारा भाव मन कहलाती है। अर्थात् मनोवर्गणा के पुद्गलो से बना हुआ तत्वविशेष द्रव्य मन है, और आत्मा की चिन्तन-मनन रूप शक्ति भावमन है।

द्रव्यमन और भावमन दोनो मिलकर ही अपना चिन्तन कार्य सम्पन्न कर सकते है। विचार करना, स्मरण करना, सोचना, योजना करना, इच्छा करना, स्नेह करना, घृणा करना, मनन-चिन्तन और विश्लेषण आदि करना, ये सब मानसिक व्यापार है, और उभयात्मक मन की सहायता से ही यह सम्पन्न होते है।

जैनागमों मे मन के आधार पर भी प्राणियों का अमनस्क (असज्ञी) और समनस्क (संज्ञी) के रूप मे वर्गीकरण किया गया है।[1] ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श करने की योग्यता जिसमे होती है उसे शास्त्रकार संज्ञी कहते है, और इनके अभाव मे जीव को असंज्ञी कहा जाता है। एक इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय वाले सभी जीव अमनस्क होते है। पचेन्द्रिय जीवो मे कोई-कोई समनस्क, और कोई-कोई अमनस्क होते है। यहा यह स्मरणीय है कि भावमन आत्मा की ही एक शक्ति होने के कारण सभी प्राणियों को प्राप्त रहता है, मगर द्रव्यमन के अभाव मे उसका उपयोग नही हो सकता।

भावमन को अगर विद्युत् मान लिया जाय, तो द्रव्यमन को बिजली का लट्टू माना जा सकता है। विद्युत् का सचार होनेपर भी जैसे लट्टू के अभाव मे प्रकाश नही होता, उसी प्रकार भावमन की विद्यमानता मे भी द्रव्यमन के अभाव मे चिन्तन आदि मनोव्यापार नही होते।

शरीर का राजा, और आत्मा का मत्री होने के कारण मन कभी-कभी आत्मा को मोह मे फसा लेता है, और इधर-उधर भटकाता है, मगर वही मन जब वशीभूत हो जाता है, तो एकाग्रता के लाभ मे सहायक बनता है तथा मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान का कारण बन जाता है।

जैसा कि उत्तराध्ययन मे कहा है, 'मन को वशीभूत करने लिए धर्मशिक्षा की आवश्यकता है।' गीता कथित 'अभ्यास और वैराग्य' भी इसी के अन्तर्गत है।

'मन का निग्रह करने से क्या लाभ होता है?' गौतम स्वामी के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा था[2]—मनोनिग्रह से पाचो इन्द्रिया वशीभूत हो जाती है, विषय वासना का उन्मूलन हो जाता है, और चंचलता नष्ट हो जाती है। मनोविजेता मुमुक्षु को एकान्तसमाधि अथवा एकाग्रता का अपूर्व लाभ होता है।

लेश्या

भारतीय तत्त्वगवेषकों ने मनोविज्ञान का—मानसिक विचारो, परिणामो, वृत्तियो और चचलताओ का बहुत ऊचे धरातल पर सर्वाङ्गीण विश्लेषण किया

---

१ नन्दि सूत्र, सूत्र ४०।

२. उत्तराध्ययन अ० २३, गा० ३६।

है। जैनतत्त्व चिन्तको की उस विवेचन एवं विश्लेषण मे महत्त्वपूर्ण देन है। जैन-शास्त्रो में लेश्या का जो विवेचन है, वह पुरातन कालीन मनोविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण और मौलिक अध्याय है, जो आज के मानस-शास्त्रियो के लिए बड़ा रुचिकर और बोधप्रद है। लेश्या का यह विवेचन हजारो वर्ष पहले तव लिपिवद्ध हो चुका है, जब आज के मनोविज्ञान का जन्म ही नही हुआ था।

लेश्या-विचार में यह देखा जाता है कि मानसिक वृत्तियो का कैसा वर्ण होता है? मनोविचारो को कितने वर्गो मे बाटा जा सकता है। मनो-विचारो का उद्गमस्थल क्या है? उनमे वर्ण आता कहा से है? आदि-आदि।

मन के विचारो मे किसी-न-किसी प्रकार का वर्ण होता है, क्योकि मानसिक चचल लहरिया पुद्गलो से सम्मिश्रित होती है और पुद्गल मूर्त्त हैं। वैचारिक समूह का द्रव्य रूप पुद्गलमय होता है। जैसे विचार वैसा वर्ण और जैसा-जैसा विचार वैसे-वैसे पुद्गल का आकर्षण।

प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले मन के अध्यवसाय असख्य है। कभी वह शुद्ध शुभ्र श्वेत होते है, तो कभी एकदम काले और कभी मिश्रित होते हैं। जैनधर्म की परिभाषा में वह मानसिक, वाचिक और कायिक परिणमन 'लेश्या' कहलाते है। (आवश्यक चूर्णी)

स्फटिक स्वरूपत. उज्ज्वल होता है, परन्तु उसके निकट जिस वर्ण के पुष्प रख दिए जाते हैं, स्फटिक उसी वर्ण का प्रतिभासित होने लगता है। आत्मा भी स्फटिक के समान ही उज्ज्वल और निर्मल है। मगर आत्मा के पास जिस वर्ण के परिणाम होगे, वह उसी वर्णवाली प्रतिभाति होने लगेगी।

यद्यपि साधारण तौर पर लेश्या का अर्थ मनोवृत्ति, विचार या तरंग हो सकता है, किन्तु आचार्यों ने कर्मश्लेष के कारण भूत शुभाशुभ परिणामों को ही लेश्या कहा है। कोई-कोई आचार्य उसे योग के अन्तर्गत स्वतत्र द्रव्य मानते है। मगर यह असदिग्ध है कि द्रव्य लेश्या पौद्गलिक है।

लेश्याओ के वर्ण मन मे उठने वाले शुभाशुभ परिणामो के द्योतक है। यद्यपि परिणाम असंख्य है, अतएव उनके सूक्ष्म तारतम्य के आधार पर लेश्याओ के भी असख्य विकल्प हो सकते हैं, किन्तु उन्हे मोटे तौर पर छ. भागो मे विभक्त कर दिया गया है। इन छ. भागों की तरतमता दिखलाने के लिए एक जैनागम-प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए :—

छह पुरुष जामुन खाने चले। फलो से लदे जामुन वृक्ष को देखकर

उनमें से एक ने कहा—'लो भाई, यह रहा जामुन का पेड़। बस, इसे धराशायी कर दें और मनचाहे फल खाए।'

दूसरे ने कहा—'वृक्ष को काटने से क्या लाभ है? इसकी मोटी-मोटी शाखाए ही काट लो।'

तीसरा—'शाखाओं को काटने की भी क्या आवश्यकता है? टहनिया काट लेना ही काफी होगा।'

चौथा—'अरे भाई, फलो के गुच्छे ही तोड लो न।'

पांचवा—'हमें तो पके जामुन चाहिए। वही क्यो न तोडे।'

छठा—'मुझे तुम लोगो की एक भी बात नही जची। जब हमें पके फल ही चाहिए तो फिर नीचे गिरे हुए ही बीन-बीन कर क्यो नही खा लेते। व्यर्थ वृक्ष को, डालियो, टहनियो या गुच्छो को काटने-तोडने की क्या आवश्यकता है?'

विचारो के शुभत्व-अशुभत्व का तारतम्य इस उदाहरण से समझा जा सकता है। इसी तारतम्य के आधार पर लेश्याओ का छह प्रकारो मे वर्गीकरण किया गया है। छह लेश्याए यह है :—

१. कृष्णलेश्या, २ नील लेश्या,
३. कापोत लेश्या, ४ तेजो लेश्या,
५ पद्मलेश्या, ६ शुक्ल लेश्या।

लेश्या के संबध मे प्रश्न करने पर भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—

१ **कृष्ण लेश्या**—[1]'हे गोयमा! कृष्ण लेश्या मनोवृत्ति का निकृष्टतम रूप है। कृष्ण लेश्या वाले के विचार अत्यन्त क्षुद्र, क्रूर, कठोर, और नृशस होते हैं। वह अहिंसा आदि व्रतो से घृणा करता है। तीव्रभाव से पापाचरण करता है, अविचारी, अविवेकी, भोग-विलासरत, इह लोक-परलोक की परवाह न करने वाला, अतीव स्वार्थी और अपने क्षुद्र आनन्द के लिए जगत् मे प्रलय ला देने वाला होता है।

२ **नील लेश्या**—[2]'हे गोयमा! कृष्ण लेश्या वाले की अपेक्षा नील लेश्या वाले की मनोवृत्ति कुछ अच्छी होती है, किन्तु वह ईर्ष्यालु, असहिष्णु, मायावी, निर्लज्ज, पापाचारी, लोलुप, अपने सुख का गवेषक, विपयी, हिंसाकर्मी

---

१ **उत्तराध्ययन अ० ३४, गा० २१, २२,**
२ " **आ० ३४, गा० २३, २४।**

और क्षुद्र होता है। मगर अपने स्वार्थ के लिए दूसरो के संरक्षण का गुण उसमें होता है।'

३. कापोत लेश्या—[1] 'इस लेश्या वाला हे गौतम ! मन वाणी और कार्य से वक्र होता है । मिथ्यादृष्टि, अपने दोषो को ढाकने वाला और परुषभाषी होता है, मगर अपने स्वार्थ के लिए पशुओ का भी संरक्षण करता है।'

४ तेजोलेश्या—[2] गौतम ! इस लेश्या वाला पुरुष पवित्र, नम्र, अचपल, दयालु, विनीत, इन्द्रिय जयी, पाप-भीरु और आत्मसाधना की आकाक्षा रखने वाला होता है। वह अपने सुख की ही अपेक्षा नही रखता, किन्तु दूसरों के प्रति भी उदार होता है।'

५. पद्मलेश्या—[3]'गौतम ! पद्म लेश्या वाले की मनोवृत्ति धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे विचरण करती है। वह पुरुष कमल के समान अपनी सुवास से दूसरो को आनन्दित करता है। सयम का उत्कृष्ट साधक, कषायो के अधिकाश पर विजय पाने वाला, मितभाषी, जितेन्द्रिय और सौम्य होता है।'

६ शुक्ल लेश्या—[4]'हे गौतम ! यह मनोवृत्ति अत्यन्त विशुद्ध होती है। शुक्ल लेश्या वाला पुरुष समदर्शी, निर्विकल्प ध्यानी, प्रशान्त अन्त करण वाला, समिति-गुप्ति से युक्त अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति मे सावधान और अशुभ प्रवृत्ति से दूर, सम्पूर्ण प्राणी-सृष्टि पर प्रेमामृत बरसाने वाला, और वीतराग होता है।'

लेश्याओ द्वारा विचारो का शुभ-अशुभभाव बताकर प्रारम्भ की तीन लेश्याओ को त्याज्य और अन्तिम तीन लेश्याओ को उपादेय कहा है।[5] पहली तीन, पाप-लेश्याए या अधर्म-लेश्याए है। अन्त की तीन, शुभ या धर्म-लेश्याए कहलाती है। अन्तिम शुक्ल लेश्या आत्मविकास की अनिवार्य शर्त है। अगर मनुष्य की विचारधारा, क्षुद्र, शुभ्रतर और शुभ्रतम की ओर चल पड़े तो मनुष्य अपनी आत्मा का शीघ्र ही कल्याण कर सकता है और विश्वशान्ति के लिए बहुत कुछ कर सकता है।

---

१ उत्तराध्ययन, अ० ३४, गा० २५, २६,
२. " " " " २७, २८,
३ " " " " २९, ३०,
४ " " " " ३१, ३२,
५. " " " " ५६, ५७

जैन धर्म मे कषाय और लेश्या का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया गया है, द्रव्य और भाव रूप से लेश्या और कषाय के वर्णन मे पारस्परिक सामञ्जस्य इस प्रकार हो गया कि दोनो को पृथक् करना दुष्कर बन गया है। फिर भी उदाहरण के द्वारा जैनाचार्यो ने उसे इस प्रकार समझाया है कि जैसे पित्त के प्रकोप से क्रोध भडक उठता है उसी प्रकार लेश्या के द्रव्य, कषायो को उत्तेजित करते है। परिणामो, विचारो तथा मानसिक उद्वेगो को लेश्या द्वारा रग, गध, रस तथा स्पर्श आदि सभी कुछ प्राप्त होता है। जैसे कृष्ण लेश्या में काजल जैसा रग होता है, नील लेश्या मे मोर की गर्दन जैसा नीला रग रहता है, कापोत लेश्या मे कबूतर जैसा, तेजोलेश्या मे मनुष्य रक्त जैसा, पद्म लेश्या मे चम्पा के फूल जैसा, तथा शुक्ल लेश्या मे चन्द्रमा जैसा रग रहता है। इसी प्रकार रसास्वाद मे भी अन्तर होता है। कृष्ण लेश्या वाले पुरुष को कडवी तूम्बी जैसा, नील वाले को मिर्च, कपोत वाले को दाडिम, तेजो वाले को पके हुए आम, पद्म वाले को इक्षु रस, और शुक्ल लेश्या वाले को मिश्री जैसा आस्वाद अनुभव होता है। उसी प्रकार लेश्याओ में सुगध और दुर्गन्ध का भी सहभाव पाया जाता है। लेश्या के पुद्गलो का स्पर्श अप्रशस्त तीन का कर्कश, और प्रशस्त तीन का नवनीत जैसा कोमल होता है।

जैनाचार्यों ने लेश्या और कषाय द्वारा मनोमय वैचारिक जगत् का विलक्षण वर्णन किया है, आधुनिक विज्ञान मे जो रग विज्ञान के द्वारा मानसिक रुचि का परिज्ञान किया जाता है, किन्तु भगवान् महावीर ने तो लेश्याओ के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा हमारे अन्तर्जगत् का स्पष्ट चित्र खैच कर हमारे सामने रख दिया है। लेश्याओ के ज्ञान से जगत् अशुभ से शुभ की ओर प्रयाण करे यही सम्यग्ज्ञान का प्रयोजन है।

कषाय

कषाय का अर्थ—कषाय जैनधर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। यह 'कष' और 'आय' इन दो शब्दो के मेल से बना है। कष का अर्थ है 'कर्म' अथवा 'जन्म-मरण'। जिससे कर्मो का आय या बन्धन होता है, अथवा जिससे जीव को पुन पुन जन्म-मरण के चक्र मे पड़ना पडता है, वह कषाय कहलाता है

जो मनोवृत्तिया आत्मा को कलुषित करने वाली हैं, जिनके प्रभाव से

आत्मा अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है, मनोविज्ञान की भाषा में वह कषाय है। आवेश और लालसा की वृत्तियां कषाय को जन्म देती हैं। वह वृत्तियां भी अनेक प्रकार की है। मगर जैनधर्म में उन्हें चार भागो में बांटा गया है।

भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी से कहा—"हे गौतम! कषाय चार हैं—

१ क्रोध, २ मान, ३ माया, ४. लोभ।

जैनागमो मे इन कषायो का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन मिलता है।

१ **क्रोध**—क्रोध एक मानसिक किन्तु उत्तेजक संवेग है। उत्तेजित होते ही व्यक्ति भावाविष्ट हो जाता है, जिससे उसकी विचार क्षमता और तर्क शक्ति बहुत कुछ शिथिल हो जाती है। भावात्मक स्थिति मे बढ़े हुए आवेश की वृत्ति युयुत्सा को जन्म देती है। युयुत्सा अमर्ष को और अमर्ष आक्रमण को उत्पन्न करता है। क्रोध और भय मे यही प्रधान अन्तर है कि क्रोध के आवेश में आक्रमण का, और भय के आवेश मे आत्म रक्षा का प्रयत्न होता है।

क्रोध का आवेश होते ही शारीरिक स्थिति परिवर्तित हो जाती है। आमाशय की मथन क्रिया, रक्तचाप, हृदय की गति, और मस्तिष्क के ज्ञानतन्तु—सब अव्यवस्थित हो जाते है, और भय के बढने पर आमाशय काम करना ही बंद कर देता है। मगर क्रोध मे रक्त का बढना, हृदय का धड़कना और ज्ञान-तन्तुओ का शून्य होना विशेष क्रियाएं है। अत भगवान् महावीर फरमाते हैं—'क्रोध—चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला, उचित अनुचित का विवेक नष्ट कर देने वाला, प्रज्वलनरूप आत्मा का परिणाम क्रोध कहलाता है।'

क्रोध के नाना रूप होते हैं। उन्हे प्रदर्शित करने के लिए शास्त्र मे क्रोध के दस नाम गिनाये गए हैं—जो मोटे तौर पर समानार्थक होने पर भी क्रोध के भिन्न-भिन्न रूपो के निदर्शक है। वे यह हैं—

१. क्रोध—संवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था।
२ कोप—क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता।
३. रोष—क्रोध का परिस्फुट रूप।
४ दोष—स्वयं पर या पर पर—दोष थोपना।
५ अक्षमा—अपराध को क्षमा न करना-उग्रता।
६. संज्वलन—बार-बार जलना, तिलमिलाना।
७. कलह—जोर-जोर से बोल कर अनुचित भाषण करना।

८. चाण्डिक्य–रौद्र रूप धारण करना।

९. भंडन–पीटने-मारने पर उतारू हो जाना।

१०. विवाद–आक्षेपात्मक भाषण करना।

यह क्रोध की विभिन्न अवस्थाए है जो उत्तेजन एव आवेश के कारण उत्पन्न होकर भयकरता उत्पन्न करती है। (भगवती सूत्र, शतक १२, उ० ५, पा० २।)

२. अभिमान—कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, जाति, ज्ञान आदि किसी विशेषता का घमड करना मान है। मनुष्य मे स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति है ही, परन्तु जब उसमे उचित से अधिक शासित करने की भूख जागृत होती है, और जब अपने गुणो एव योग्यताओ को परखने मे वह भूल कर जाता है, तब उसके अन्त.करण मे मान की वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है।

अभिमान में भी उत्तेजन और आवेग होता है, किन्तु अभिमानी मनुष्य अपनी अहंवृत्ति का पोषण करता है। उसे अपने से बढकर या अपनी बराबरी का गुणी कोई दीखता नही। भगवान् महावीर ने मान के बारह नाम बतलाये हैं—

१. मान–अपने किसी गुण पर झूठी अहवृत्ति।

२. मद–अहभाव में तन्मयता।

३. दर्प–उत्तेजनापूर्ण अहभाव।

४. स्तम्भ–अविनम्रता।

५. गर्व–अहकार।

६ अत्युत्क्रोश–अपने को दूसरो से श्रेष्ठ कहना।

७ परपरिवाद–परनिन्दा।

८. उत्कर्ष–अपना ऐश्वर्य प्रकट करना।

९. अपकर्ष–दूसरो की हीनता प्रकट करना।

१० उन्नत–दूसरो को तुच्छ समझना।

११ उन्नतनाम–गुणी के सामने भी न झुकना।

१२. दुर्नाम–यथोचित रूप से न झुकना।

यह सब मान की विभिन्न अवस्थाए हैं।

—भगवती, श० १२, उ० ५, पाठ ३।

३ माया—कपटाचार माया कषाय है। शास्त्र मे इसके पन्द्रह नाम गिनाये है, जो इस प्रकार हैं—

१. माया–कपटाचार।

२ उपाधि–ठगे जाने योग्य व्यक्ति के समीप जाने का विचार।

३. निकृति–छलने के अभिप्राय से अधिक सम्मान करना।

४ वलय–वक्रतापूर्ण वचन।

५. गहन–ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ भाषण करना।

६ नूम–ठगाई के उद्देश्य से निकृष्टतम कार्य करना।

७ कल्क–दूसरे को हिंसा के लिए उभारना।

८. कुरूप–निन्दित व्यवहार।

९. जिह्मता–ठगाई के लिए कार्य मन्द करना।

१०. किल्विषिक–भाँडों की भाति कुचेष्टा करना।

११. आदरणता–अनिच्छित कार्य भी अपनाना।

१२. गूहनता–अपनी करतूत को छिपाने का प्रयत्न करना।

१३. वचकता–ठगी।

१४. प्रतिकुचनता–किसी के सरल रूप से कहे गये वचनो का खडन करना।

१५ सातियोग–उत्तम वस्तु मे हीन वस्तु मिश्रित करना।

यह सब माया की ही विभिन्न अवस्थाए है।

—भगवती, श० १२, अ० ५, पा० ४।

४ लोभ—मोहनीय कर्म के उदय से चित्त मे उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ कहलाती है। लोभ की सोलह अवस्थाएं होती हैं—

१. लोभ–सग्रह करने की वृत्ति।

२. इच्छा—अभिलाषा।

३. मूर्छा—तीव्रतम सग्रहवृत्ति।

४. काक्षा–प्राप्त करने की आशा।

५. गृद्धि–प्राप्त वस्तु मे आसक्ति होना।

६. तृष्णा–जोडने की इच्छा, वितरण की विरोधी वृत्ति।

७. मिथ्या–विषयो का ध्यान।

८. अभिध्या–निश्चय से डिग जाना।

९. आशसना—इष्टप्राप्ति की इच्छा करना।

१०. प्रार्थना–अर्थ आदि की याचना।

११ लालपनता–चाटुकारिता।

१२. कामाशा–काम की इच्छा।

१३. भोगाशा– भोग्य पदार्थो की इच्छा।

वर्ण पाच है	—[1]	कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत।
गध दो है	—	सुगन्ध और दुर्गन्ध
रस पाच है	—	कटुक, कषाय, तिक्त, अम्ल, और मधुर।
स्पर्श आठ है	—	कठिन, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, सूक्ष्म और स्निग्ध।

यह सब वीस पुद्गल के असाधारण गुण है, जो तारतम्य एव सम्मिश्रण के कारण सख्यात, असख्यात और अनन्त रूप ग्रहण करते है।

शब्द, गध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकृति, भेद, अधकार, छाया, चाँदनी और धूप पुद्गल के ही लक्षण है[2]।

पुद्गल के अवस्थाकृत चार भेद[3] है —स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। सम्पूर्ण पुद्गल पिण्ड स्कन्ध कहलाता है। स्कन्ध का एक भाग देश कहलाता है। स्कन्ध और देश से जुडा हुआ अविभाज्य अश प्रदेश कहलाता है और वह प्रदेश जब स्कध या देश से पृथक् हो जाता है तब परमाणु कहलाता है।

साधारणतया कोई स्कन्ध बादर, और कोई सूक्ष्म होते है। बादर स्कन्ध इन्द्रियगम्य, और सूक्ष्म इन्द्रिय अगम्य होते है[4]।

इन्हे छह भागो मे विभक्त किया गया है —

१. बादर बादर स्कन्ध	—	जो टूट कर जुड न सके, लकडी पत्थर।
२. बादर स्कन्ध	—	प्रवाही पुद्गल जो टूट कर जुड जाते है।
३ सूक्ष्म बादर	—	जो देखने मे स्थूल किन्तु अकाट्य हो, जैसे धूप, प्रकाश आदि।
४. बादर सूक्ष्म	—	सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियगम्य हो, जैसे रस, गध, स्पर्श, आदि।
५ सूक्ष्म	—	इन्द्रियो से अगोचर स्कध, यथा-कर्मवर्गणादि
६ सूक्ष्मसूक्ष्म	—	अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध, यथा—कर्मवर्गणा से नीचे के द्वयणुक पर्यन्त पुद्गल।

परमाणु, पुद्गल का वह सूक्ष्मतम भाग है, जो पुन विभक्त नही हो

---

१ भगवती सू० श० १२ उद्देशा ४, स० ४५०।

२ उत्तराध्ययन, अ० २८, गाथा १२।

३. प्रज्ञापना परिणाम पद, १३ सू० १८५। ४ अनुयोगद्वार

सकता। परमाणु में यद्यपि प्रदेश भेद नहीं है, मगर गुणभेद अवश्य होता है। उसमें एक वर्ण, एक गंध, एक रस, और दो स्पर्श होते हैं।

आंख का पलक गिराने में जितना समय लगता है, उसके असंख्यातवें अंश को जैनशास्त्र 'समय'[1] की संज्ञा देते हैं। जैसे पुद्गल का सूक्ष्मतम पर्याय परमाणु है, उसी प्रकार काल का सूक्ष्मतम भाग समय है। परमाणु में अचिन्त्य वेग होता है, वह एक समय में सम्पूर्ण लोक को पार कर लेता है। जैनशास्त्र बतलाते हैं कि[2] परमाणु आग की भयानक लपटों में से गुजर कर भी जलता नहीं, पानी से गलता नहीं, सड़ता नहीं, हवा का उस पर असर होता नहीं, वह अभेद्य, अछेद्य, अदाह्य है—अविनश्वर है। हां, किसी स्कन्ध में जब मिल जाता है तो उसका परमाणु-पर्याय नहीं रहता, तथापि उसकी सत्ता बनी रहती है। स्कन्ध के पृथक् होने पर वह पुनः परमाणु का रूप ग्रहण कर लेता है।

जैन धर्म का परमाणु विज्ञान अत्यन्त विशद और गम्भीर है। जैन साहित्य में जितना चिन्तन एवं विश्लेषण परमाणु के विषय में उपलब्ध है, उतना विश्वसाहित्य में कहीं अन्यत्र नहीं। कहा जाता है कि आज का युग परमाणु-युग है, किन्तु जैन परमाणु विज्ञान को समझ लेने पर स्पष्ट हो जायेगा कि आज के अणु-वैज्ञानिक वास्तविक अणु तक अभी नहीं पहुंच सके हैं। उसे पाने के लिए अब भी गहरा गोता लगाने की आवश्यकता है। अणुभेद की जो बात आज कही जा रही है, वह वस्तुतः स्कन्ध भेद—पिण्डभेद है। अणु तो अविभाज्य है।

एक अणु का दूसरे अणु के साथ किस प्रकार संयोग अर्थात् बंध होता है? किन विशेषताओं के कारण परमाणु परस्पर बद्ध होते हैं, यह जानने के लिए जैनागमों का अभ्यास करने की आवश्यकता है। (देखिए-भगवती सूत्र, पन्नवणासूत्र, पंचास्तिकाय, तत्त्वार्थसूत्र, आदि)।

शब्द परमाणुजन्य नहीं, स्कन्धजन्य है, दो स्कन्धों के संघर्ष से शब्द की उत्पत्ति होती है। कई भारतीय आचार्य शब्द को अमूर्त्त आकाश का गुण कहते हैं, मगर अमूर्त्त का गुण मूर्त्त नहीं हो सकता। शब्द मूर्त्त है, यह जैन मान्यता आज विज्ञान द्वारा भी समर्थित हो चुकी है। शब्द का कूप आदि में प्रतिध्वनित होना और ग्रामोफोन में बद्ध होना उसके मूर्त्तत्व का प्रमाण है।

पुद्गल का चमत्कार—उपर्युक्त छह द्रव्यों का विस्तार ही यह जगत् है।[3] इसमें इनके अतिरिक्त कोई सातवां द्रव्य नहीं है।

१, अनुयोगद्वार। २ स्थानांग स्थान, ३ उद्देशा० ३ सू० ८२
३ उत्तराध्ययन, अ० २८, गा० ८।

तत्त्व-चर्चा

पिछले प्रकरण मे द्रव्यो के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा जा चुका है, वस्तुत' उसी मे तत्त्व-चर्चा का समावेश हो जाता है, क्योकि जैसे मूलद्रव्य जीव और अजीव दो है, उसी प्रकार मूल तत्त्व भी यही दो है। फिर भी जैनशास्त्रो मे द्रव्यो मे पृथक् तत्त्व का जो निरूपण किया गया है, उसका विशिष्ट प्रयोजन है।

द्रव्यनिरूपण सृष्टि का यथार्थ वोध प्राप्त करने के लिए है, जब कि तत्त्वविवेचन की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक है।

साधक को इस विशाल विश्व की भौगोलिक स्थिति का और उसके अगभूत पदार्थो का ज्ञान न हो, तो भी वह तत्त्वज्ञान के सहारे मुक्तिसाधना के पथ पर अग्रसर हो सकता है, किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव में कोरे द्रव्य ज्ञान से मुक्तिलाभ होना नभव नही है। हेय, उपादेय और ज्ञेय का विवेकतत्त्व विवेचन से ही संभव है। निग्गठ नायपुत्त महावीर का यह अमर घोष था कि साधक जब तक स्वरूप को पहचानने की क्षमता नही प्राप्त कर लेता, वह मुक्ति के पथ पर अग्रसर नही हो सकता।

जैनधर्म ज्ञान के दो भेद कर देता है--प्रयोजनभूत ज्ञान, और अप्रयोजनभूत ज्ञान। मुमुक्षु के लिए आत्मज्ञान ही 'प्रयोजनभूत ज्ञान' है, उसे अपनी मुक्ति के लिए यह जानना अनिवार्य नही, कि जगत् कितना विशाल है, और इसके उपादान क्या है? उसे तो यही जानना चाहिए कि आत्मा क्या है। सव आत्माएँ तत्त्वत समान है, तो उनमे वैषम्य क्यो दृष्टिगोचर होता है? यदि बाह्य उपाधि के कारण वैषम्य आया है, तो वह उपाधि क्या है? किस प्रकार उसका आत्मा से सम्बन्ध होता है? कैसे वह आत्मा को प्रभावित करती है? कैसे उससे छुटकारा मिल सकता है? छुटकारा मिलने के पश्चात् आत्मा किस स्थिति मे रहती है? इन्ही प्रश्नो के समाधान के लिए जैनागमो मे तत्त्व का निरूपण किया गया हे।

सक्षेप मे यह कि द्रव्यनिरूपण का उद्देश्य दार्शनिक एव लौकिक है, और तत्त्वनिरूपण का उद्देश्य आध्यात्मिक है।

तत्त्व नौ[1] है —१ जीव २ अजीव ३ पुण्य ४ पाप ५. आस्रव ६. सवर ७ निर्जरा ८. वध ९. मोक्ष।

यह जैन धर्म का आध्यात्मिक मन्थन तथा विकास के साधक और

१ स्थानाग, स्था० ९, सूत्र, ६६५; उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८, गा० १४।

बाधक तत्त्वो का अपना मौलिक प्रतिपादन है। जैनधर्म इन्ही तत्त्वों के आधार पर जीव के उत्थान, पतन, सुख, दु:ख और जन्म-मृत्यु आदि की समस्याएँ हल करता है। इन तत्त्वो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

१ जीव—जीव के सम्बन्ध मे पहले कहा जा चुका है। जीव कहिए या आत्मा, स्वभाव से अमूर्त होने पर भी कर्मबन्ध के कारण मूर्त-सा हो रहा है। प्रत्येक संसारी जीव कर्म से प्रभावित है। कर्मबन्ध आत्मा को पराधीन और दु:खी बनाता है। आत्मा कर्म उपार्जन करने मे स्वतन्त्र, किन्तु भोगने में परतन्त्र है। आत्मा स्वय ही अपने उत्थान-पतन का निर्माता है[1]। अपने भाग्य का विधाता है। वह न कूटस्थ नित्य है, और न एकान्त क्षणिक ही है, किन्तु अन्य द्रव्यो की भांति परिणामी नित्य है।

२ अजीव—अजीव का वर्णन पहले आ गया है। कहा जा चुका है कि जीव कर्मबन्ध के कारण ही अपने वास्तविक स्वरूप से वञ्चित है। कर्म एक प्रकार के पुद्गल हैं। देखना चाहिए कि जीव का कर्म पुद्गलों के साथ क्यो और कैसे सम्बन्ध होता है।

३. पुण्य—[2]"पुनाति, पवित्रीकरोत्यात्मानमिति पुण्यम्।"

"जो आत्मा को पवित्र करता है अथवा पवित्रता की ओर ले जाता है, वह पुण्य है।" पुण्य एक प्रकार के शुभ पुद्गल हैं, जिनके फलस्वरूप आत्मा को लौकिक सुख प्राप्त होता है और आध्यात्मिक साधना मे सहायता प्राप्त होती है। धर्म की प्राप्ति सम्यक् श्रद्धा, सामर्थ्य, संयम और मनुष्यता का विकास भी पुण्य से ही होता है। तीर्थंकर नामकर्म भी पुण्य का फल है। पुण्य, मोक्षार्थियो की नौका के लिए अनुकूल वायु है, जो नौका को भवसागर से शीघ्रतम पार कर देती है। आरोग्य, सम्पत्ति आदि सुखद पदार्थो की प्राप्ति पुण्य कर्म के प्रभाव से ही होती है।

(आचार्य हेमचन्द्र ने कर्मो के लाघव को भी पुण्य माना है) "पुण्यत.—कर्मलाघवलक्षणात् शुभकर्मोदयलक्षणाच्च।"—योगशास्त्र—प्र० ४, श्लो० १०७।

जिन प्रकारो से पुण्योपार्जन होता है, उन्हे नौ[3] भागो मे विभक्त किया है –

---

१. अप्पा कत्ता विकत्ता य, उत्तरा०, अ० २० गा० ३७।

२. स्थानांग, अभयदेव टीका, प्रथम स्थान

२. नवपुण्णे, ठाणांग, ठाणा ९

१. अन्नपुण्य	—	भोजन का दान देना।
२ पान पुण्य	—	पानी का दान देना।
३ लयनपुण्य	—	निवास के लिए स्थान-दान करना।
४. शयनपुण्य	—	शय्या, सस्तारक-बिछौना आदि देना।
५. वस्त्रपुण्य	—	वस्त्र का दान देना।
६ मन पुण्य	—	मन के शुभ एव हितकर विचार।
७. वचनपुण्य	—	प्रशस्त वाणी का प्रयोग।
८. कायपुण्य	—	शरीर से सेवा आदि शुभ प्रवृत्ति करना।
९. नमस्कारपुण्य	—	गुरुजनो एव गुणी जनो के समक्ष नम्रभाव धारण करना, और प्रकट करना।

पुण्य के भी दो भेद है —१. द्रव्य पुण्य और २ भाव पुण्य।

अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-वृत्तियो से पुण्य का उपार्जन[1] होता है। विश्व, राष्ट्र, समाज, जाति तथा दुखी प्राणियो के दु खनिवारण करने की भावना, तथा तदनुकूल प्रवृत्ति करने से पुण्य का बन्ध होता है। और इन्हीं सद्गुणो को सम्यक्दृष्टिपूर्वक सम्पादन किया जाय, तो यह धर्म तथा निर्जरा के भी कारण बन जाते हैं।

पाप—जिस विचार, उच्चार एव आचार से अपना और पर का अहित हो और जिसका फल अनिष्ट-प्राप्ति हो, वह पाप कहलाता है। पाप-कर्म आत्मा को मलीन और दु खमय बनाते है। निम्नलिखित अठारह अशुभ आचरणो मे सभी पापो का समावेश हो जाता है।

१. प्राणातिपात-हिसा।
२. मृषावाद-असत्य भाषण।
३. अदत्तादान-चौर्यकर्म।
४. मैथुन-काम-विकार, लैंगिक प्रवृत्ति।
५ परिग्रह-ममत्व, मूर्छा, तृष्णा, संचय।
६. क्रोध-गुस्सा।
७ मान-अहकार, अभिमान।
८. माया-कपट, छल, षड्यन्त्र, कूटनीति।
९. लोभ-सचय के सरक्षण की वृत्ति।
१०. राग-आसक्ति।
११ द्वेष-घृणा, तिरस्कार, ईर्ष्या आदि।
१२ क्लेश-सघर्ष, कलह, लड़ाई, झगड़ा आदि।

---

१ भगवती, श० ७, उ० ६, सूत्र २८६।

१३. अभ्याख्यान-दोषारोपण १४. पिशुनता-चुगली
१५. परपरिवाद-परनिंदा। १६. रति-अरति-हर्ष और शोक।
१७ मायामृषा-कपट सहित झूठ। १८ मिथ्यादर्शनशल्य-अयथार्थ श्रद्धा।

आस्रव—[1] आत्मा मे कर्मो का आना और उनके आने का कारण आस्रव कहलाता है। मन, वचन, और काय की वह सब वृत्तियां, जिनसे कर्म आत्मा की ओर आकृष्ट होते है, आस्रव है। आस्रव कर्मबन्ध का कारण है।

आत्मा के लोक मे आस्रव ही कर्मो का प्रवेशद्वार है। मुमुक्षु-जीव को यह जान लेना अनिवार्य है कि वह कौन-सी वृत्तियाँ या प्रवृत्तिया है, जिनके कारण कर्मो का आगमन होता है? उन्हे जाने विना निरुद्ध नहीं किया जा सकता, और मुक्तिलाभ भी नही लिया जा सकता।

आस्रवजनक वृत्तियो और प्रवृत्तियो की ठीक तरह गणना नहीं हो सकती, तथापि वर्गीकरण करके जैनशास्त्रो मे अनेक प्रकार से उनका दिग्दर्शन कराया गया है। मूल मे उनकी सख्या पाच है :—

१. मिथ्यात्व – विपरीत श्रद्धा।
२. अविरति – अहिंसा, असत्य आदि।
३. प्रमाद – कुशल अनुष्ठान मे अनादर।
४. कषाय – क्रोध, मान, माया, लोभ।
५, योग – मन, वचन और काया का व्यापार।

संवर—[2] मुमुक्षु जीव कर्मो के आस्रव के कारणो को पहचान कर जब उनसे विरुद्ध वृत्तियो का अवलम्बन लेता है तो आस्रव रुक जाता है। आस्रव का रुक जाना ही सवर है। उदाहरणार्थ—यथार्थ श्रद्धानिष्ठ बनने पर मिथ्यात्वजन्य आस्रव रुक जाता है, अहिंसा सत्य आदि व्रतो का आचरण करने से अविरति-जन्य आस्रव नही होता, अप्रमत्त अवस्था मे प्रमादजन्य आस्रव नहीं होता, वीतरागदशा प्राप्त कर लेने पर कषाय-जन्य आस्रव रुक जाता है, और पूर्ण आत्मनिष्ठा प्राप्त कर लेने पर योग-जन्य आस्रव रुक जाता है।

कर्मास्रव का निरोध[3] मन, वचन, काय के अप्रशस्त व्यापार को रोकने

---

१. समवायांग, समवाय ५।
२. उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र ११।
३. तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ९, सूत्र २, स्थानांगवृत्ति, स्था० १।

से, विवेकपूर्वक प्रवृत्ति करने से, क्षमा आदि धर्मो का आचरण करने से, अन्त.-करण मे विरक्ति जगाने से, कष्ट-सहिष्णुता और सम्यक् चारित्र का अनुष्ठान करने से होता है।

कोई भी साधक योग-क्रिया को सर्वथा निरुद्ध नही कर सकता। उठना, बैठना, खाना-पीना, सभाषण करना आदि जीवन के लिए अनिवार्य है। जैन-शास्त्र इन प्रवृत्तियों की मनाही नही करता, परन्तु इन पर अकुश अवश्य लगाता है, और वह अकुश है विवेक का। साधक जो भी प्रवृत्ति करे, वह विवेकपूर्ण होनी चाहिए, उसमे विवेक की आत्मा बोलनी चाहिए, वह समस्त क्रियाए आस्रव है जिनके पीछे अविवेक काम करता है, इसके विपरीत विवेक-पूर्ण की जाने वाली क्रियाये धर्म और संवरमय है।

निर्जराः—[1] सवर नवीन आने वाले कर्मो का निरोध है, परन्तु अकेला संवर मुक्ति के लिए पर्याप्त नही। नौका मे छिद्रो द्वारा पानी आना आस्रव है। छिद्र बन्द करके पानी रोक देना संवर समझिए। मगर जो पानी आ चुका है, उसका क्या हो? उसे धीरे-धीरे उलीचना पडेगा[2]। बस, यही निर्जरा है। निर्जरा का अर्थ है—जर्जरित कर देना, झाड देना। पूर्वबद्ध कर्मों को झाड़ देना, पृथक् कर देना निर्जरा तत्त्व है। कर्मनिर्जरा के दो प्रकार हैं—औपक्रमिक और अनौपक्रमिक।

परिपाक होने से पूर्व ही तप प्रयोग आदि किसी विशिष्ट साधना से, बलात्कर्मो को उदय मे लाकर झाड देना औपक्रमिक निर्जरा है। अपनी नियम-अवधि पूर्ण होने पर स्वतः कर्मो का उदय मे आना और फल देकर हट जाना अनौपक्रमिक निर्जरा है। इसका दूसरा नाम सविपाक निर्जरा है। यह प्रत्येक प्राणी को प्रतिक्षण होती रहती हे। बन्ध और निर्जरा का प्रवाह अविराम गति से बढ़ रहा है, किन्तु साधक सवर द्वारा नवीन आस्रव को निरुद्ध कर, तपस्या द्वारा पुरातन कर्मो को क्षीण करता चलता है। वह अन्त मे पूर्णरूप से निष्कर्म[3] बन जाता है।

मगर यह साधना सरल नही है। इसके लिए सभी पर पदार्थो मे

---

१. स्थानांग, स्था० ५, उ० १, सूत्र ४०९।
२. जहा महातलागस्स, उत्तराध्ययन, अ० ३०, गा० ५।
३ उत्तराध्ययन, अ० १३, गा० १६।

अनासक्ति और साथ ही आत्मनिष्ठा अपेक्षित है। ऐसा साधक अपने विराट् चैतन्यस्वरूप को प्राप्त करना ही अपना एकमात्र ध्येय मानता है। जैनशास्त्र साधक-जीवन की अनासक्ति को यो प्रकट करते है.—

'अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइय।'

ससार के अन्य पदार्थों की बात तो दूर रही, साधक का अपने शरीर पर भी ममभाव नही रहता। वह अन्तःस्थ होकर स्वरूपरमण मे ही लीन रहता है। इसी कारण सयमी साधक को अविपाक निर्जरा का अमूल्य तत्त्व प्राप्त होता है, जिसके बल पर वह कोटि-कोटि कर्मों को क्षण भर मे फल भोगे बिना ही भस्म कर देता है। अडोल अकम्प साधक जगत् मे रहता हुआ भी, जगत् से और देह मे रहता हुआ भी देह से ऐसा अलिप्त रहता है जैसे कीचड़, पानी, और आग मे पडा हुआ सोना अपने स्वरूप मे शुद्ध बना रहता है। अलिप्त भाव से किया हुआ तपश्चरण कर्मसघात पर ऐसा प्रहार करता है कि वह जर्जरित होकर आत्मा से पृथक् हो जाते है। जैन परिभाषा मे इसे 'सकाम' निर्जरा कहते हैं।

विवश होकर, हाय-हाय करते हुए भी कर्म भोगे जाते है, और फल देने के बाद वे निर्जीव हो जाते है। वह अकाम निर्जरा है। साधारण ससारी प्राणी अकामनिर्जरा द्वारा ही कर्मो को जीर्ण करते हैं, परन्तु ऐसा करते-करते वे और अधिक नवीन कर्म उपार्जन कर लेते है, जिससे उन्हे मुक्ति नही मिल पाती।

अभिप्राय यह है कि इच्छापूर्वक समभाव से कष्ट सहना, सकाम निर्जरा, और अनिच्छापूर्वक व्याकुल एवं अशान्तभाव से कष्ट भोगना, अकामनिर्जरा है।

बन्ध:—आत्मा के साथ, दूध-पानी की भाँति, कर्मों का मिल जाना, बन्ध कहलाता है। किन वृत्तियो एव प्रवृत्तियो से कर्मो का आस्रव होता है यह हम देख चुके हैं, मगर प्रश्न यह है कि आत्मा के साथ कर्मो का बन्ध होता कैसे है? आत्मा अरूपी और कर्म पुद्गल रूपी है। अरूपी के साथ रूपी का बन्ध किस प्रकार सभव है[१]?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि आत्मा अपने स्वरूप से अरूपी है; तथापि अनादि काल से कर्मबद्ध होने के कारण रूपी भी है। मोहग्रस्त

१. स्थानांग, स्थान २, उद्देशा २, प्रज्ञापना पद २३, सू० ५।

संसारी प्राणी ने अब तक कभी अपना अमूर्त्त स्वभाव प्राप्त नहीं किया है और जब वह उसे प्राप्त कर लेता है तो फिर कभी कर्मबद्ध नहीं होता।

खनिज स्वर्ण का मिट्टी के साथ कब संयोग हुआ, नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आत्मा के साथ पहले-पहल कब कर्मों का बन्ध हुआ, यह भी नही कहा जा सकता। इस सम्बन्ध मे जो कुछ कहा जा सकता है, वह यही कि इनका सम्बन्ध अनादिकालीन है।

जैसे चिकने पदार्थ पर रजकण आकर चिपक जाते ह, उसी प्रकार राग-द्वेष की चिकनाहट के कारण कर्म आत्मा से बद्ध हो जाते हैं।

राग-द्वेप, मोह आदि जो विकृत भाव कर्मपुद्गलों के बन्ध मे कारण हैं, वे भाव बन्ध हैं, और कर्म पुद्गलो का आत्मप्रदेशो के साथ एकमेक होना द्रव्य बन्ध है।

पुद्गल की अनेक जातियो में एक 'कार्मण' जाति है। इस जाति के पुद्गल सूक्ष्मतर रज के रूप मे सम्पूर्ण लोक मे व्याप्त हैं। जब आत्मा मे रागादि विभाव का आविर्भाव होता है, वह पुद्गल वही के आत्मप्रदेशो से बद्ध हो जाते हैं, जहाँ वे पहले से मौजूद थे। यही बन्ध का स्वरूप है। बन्ध के समय उन कर्मों मे चार बाते नियत होती हैं, जिनके कारण बन्ध के भी चार प्रकार[1] कहे जाते हैं।

गाय घास खाती है, और अपनी औदर्य यन्त्रप्रणाली द्वारा उसे दूध के रूप में परिणत कर देती है। उस दूध मे चार बाते होती हैं —

१ दूध की प्रकृति (मधुरता) २ कालमर्यादा—दूध के विकृत न होने की एक अवधि। ३ मधुरता की तरमता, जैसे भैंस के दूध की अपेक्षा कम, और बकरी के दूध की अपेक्षा अधिक मधुरता होना आदि। ४ दूध का परिमाण सेर, दो सेर आदि।

इसी प्रकार कर्म मे एक विशेष प्रकार का स्वभाव उत्पन्न हो जाना प्रकृतिबन्ध है। कर्म के स्वभाव असख्य हैं, फिर भी उन्हे आठ भागो मे विभक्त किया गया है, जिनका स्पष्टीकरण पृथक् परिच्छेद मे दिया गया है। स्वभाव-निर्माण के साथ ही उसके बद्ध रहने की काल अवधि भी निश्चित हो जाती है, जिसे स्थिति बन्ध कहते हैं। फल (रस) देने की तीव्रता अथवा

---

१. समवायाग, समवाय ४।

मन्दता 'अनुभागवन्ध' या 'रस बन्ध' है, और कर्मप्रदेशो का समूह 'प्रदेश वन्ध' कहलाता है।

इन चार वन्धो मे से प्रकृतिवन्ध और प्रदेशवन्ध योगो की चंचलता पर निर्भर होते है, अर्थात् कितने कर्मदल वन्ध, और उनमे किस प्रकार स्वभाव उत्पन्न हो, वह वात मानसिक, वाचिक और कायिक स्पन्दन के तारतम्य के अनुसार निश्चित होती है। कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ वद्ध रहे, और कितना मन्द, मध्यम या उग्र फल प्रदान करे, यह नियति कपाय की तीव्रता-मन्दता पर अवलम्बित है।

मोक्ष—[1] सवर द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रुक जाने और निर्जरा द्वारा पूर्ववद्ध समस्त कर्मों के क्षीण हो जाने के फलस्वरूप आत्मा को पूर्ण निष्कर्म दशा प्राप्त हो जाती है। जव कर्म नही रहते तो कर्मजनित उपाधियाँ भी नही रहती, और जीव अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यही जैनधर्म-सम्मत मोक्ष है।

मुक्त दशा में आत्मा[2] अशरीर, अनिन्द्रिय, अनन्त चैतन्यघन, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त आत्मिक वीर्य से सम्पन्न हो जाता है। वह सव प्रकार की क्षुद्रताओ से अतीत, विराट् स्वरूप की उपलब्धि है।

विकार ही विकार को उत्पन्न करते है, जो आत्मा सर्वथा निर्विकार हो जाता है वह फिर कभी विकारमय नही होता। वह आस्रव और वन्ध के कारणों से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। इसी कारण मुक्त दशा शाश्वतिक है। मुक्तात्मा फिर कभी ससार मे अवतीर्ण नही होते[3] वह जन्म-मरण से आत्यन्तिक निवृत्त है।

आत्मा स्वभावत. ऊर्ध्वगतिशील है। जिस प्रकार मृत्तिका से लिप्त तूवा जल में छोड देने पर नीचे की ओर चला जाता है, और ठेठ पैदे पर जा टिकता है, किन्तु लेप गल जाने पर हल्का होकर पानी की सतह पर आ जाता है, और जैसे अग्निशिखा स्वभावत. ऊर्ध्वगति करती है, उसी प्रकार आत्मा कर्मलेप से मुक्त होते ही स्वभावत. ऊर्ध्वगमन करती है।

---

१ उत्तराध्ययन, अ० २९, सूत्र ७२।
२ उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ६७।
३. दशाश्रुतस्कध, अ० ५, गा० १३।

मगर लोकाकाश से आगे गति सहायक धर्मद्रव्य नही है। अतएव वहाँ उसकी गति का निरोध हो जाता है, और मुक्तात्मा लोकाग्र भाग[1] में ही प्रतिष्ठित हो जाती है। इस प्रकार समस्त औपाधिक भावो से छुटकारा पा लेना, चैतन्यानुभूति की पूर्ण विशुद्धि हो जाना, या आत्मा का परम-आत्मा बन जाना ही मोक्ष है। यही ईश्वरत्व की प्राप्ति है।

ससार-दशा में, आत्मा मे ज्ञान और आनन्द के जो विकृत अग अनुभव मे आते है, वे आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द नामक गुण के विकार है। मुक्त-दशा मे वह अपने शुद्ध स्वरूप मे प्रकट हो जाते है, अतएव मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान, और पूर्ण एवं अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करते है।

मोक्ष-लाभ ही मानव-जीवन का चरम और परम पुरुषार्थ है। यही समस्त साधनाओ का सार है।

प्रमाण-मीमांसा

जैनशास्त्रो मे ज्ञान की मीमासा के दो प्रकार उपलब्ध होते है—आगमिक पद्धति से और तार्किक पद्धति से। आगमिक पद्धति, और तार्किक पद्धति मे वस्तुत: कोई मौलिक भेद नही है, तथापि दोनो का वर्गीकरण जुदा-जुदा है। आगमिक पद्धति के वर्गीकरण के अनुसार ज्ञान के पाच भेद है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्यायज्ञान, और केवल ज्ञान। इनका दिग्दर्शन हम आगे करेगे। तार्किक पद्धति के अनुसार सशय, विपर्यास और अनध्यवसाय से रहित सम्यग्ज्ञान, प्रमाण कहलाता है। प्रमाण ज्ञान को चार भागो मे विभक्त किया गया है[2]।

१. प्रत्यक्ष २. अनुमान ३ आगम और ४. उपमान।

इनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है —

१ प्रत्यक्ष :—[3] विशद ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञान मे वस्तुगत विशेषताए प्रचुरता से प्रतीत होती है, वह प्रत्यक्ष है। पूर्वोक्त पाच ज्ञानो मे से मति ज्ञान

---

१ उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ५७।

२. पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे, अनुयोगद्वार। प्रमाणद्वारम्।

३. से किं तं पच्चक्खे? अनुयोगद्वार-प्रमाणद्वारम्।

और श्रुत ज्ञान परोक्ष[1] है और अन्तिम तीन-अवधि, मन पर्याय, और केवल ज्ञान-प्रत्यक्ष[2] है । प्रत्यक्ष मे भी अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञान विकल या आंशिक प्रत्यक्ष है, और केवल ज्ञान परिपूर्ण होने के कारण सकल प्रत्यक्ष कहलाता है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान वस्तुत परोक्ष है, किन्तु लोक-प्रतीति के अनुसार वह साव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहलाते है ।

२. अनुमान :—[3]–[4] अनुमान तर्कशास्त्र का प्राण है। यद्यपि अनुमान प्रत्यक्षमूलक होता है, तो भी उसका अपना विशिष्ट स्थान है। अनुमान के द्वारा ही हम ससार का अधिकतम व्यवहार चला रहे है। अनुमान के आधार पर ही तर्कशास्त्र का विशाल भवन खडा हुआ है ।

कार्य-कारण के सिद्धान्त से अनुमान प्रमाण का प्रादुर्भाव होता है। अग्नि से ही धूम्र की उत्पत्ति होती है, और अग्नि के अभाव मे धूम्र उत्पन्न नही हो सकता, इस प्रकार का कार्य-कारण भाव व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध कहलाता है । इसका निश्चय तर्क प्रमाण से होता है । अविनाभाव निश्चित हो जाने पर कारण को देखने से कार्य का बोध हो जाता है । वही बोध अनुमान कहलाता है । किसी जगह धूम से उठते हुए गुब्बारे को देखकर अदृष्ट अग्नि की कल्पना स्वत होती है[5] यही अनुमान ज्ञान है।

कही कोई शब्द सुनाई देता है, तो श्रोता उसी समय निश्चित कर लेता है कि यह शब्द मनुष्य का है अथवा पशु का है । मनुष्यो मे भी अमुक मनुष्य का है, और पशुओ मे भी अमुक पशुजाति का है । इस प्रकार केवल स्वर से स्वर वाले को जान लेना अनुमान का फल है[6] ।

अनुमान के दो भेद है —स्वार्थानुमान और परार्थानुमान । अनुमान-कर्त्ता जब अपनी अनुभूति से स्वय ही किसी तथ्य (ज्ञेय-साध्य) का हेतु

---

१. परोक्खे णाणे दुविहे, स्थानांग सूत्र, स्था० २ ।
२. तिविहे पण्णत्ते, अनुयोगद्वार प्रमाणद्वारम् ।
३ से किं तं अणुमाणे, अनुयोगद्वार० प्रमाणद्वारम् ।
४. अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम्, मल्लधारीया टीका।
५ अग्गिं धूमेणं
६. सखं सद्देणं

(साधन) द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, तो वह स्वार्थानुमान कहलाता है। और जब वह वचनप्रयोग द्वारा किसी अन्य को वही तथ्य समझाता है, तो उसका वह वचन-प्रयोग परार्थानुमान कहलाता है। स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है, और परार्थानुमान वचनात्मक है।

परार्थानुमान का शाब्दिक रूप क्या होना चाहिए ? इस विषय को लेकर भारतीय न्यायशास्त्रियो ने बहुत विचार किया है। न्यायदर्शन मे परार्थानुमान के पाच अवयव[1] स्वीकार किये गये है, जो इस प्रकार है :—

१. पर्वत मे अग्नि है (प्रतिज्ञा)।
२. क्योंकि वहां धूम्र है (हेतु)।
३. जहां-जहा धूम्र होता है, वहा—वहा अग्नि होती है (व्याप्ति) जैसे रसोई घर (उदाहरण)।
४ पर्वत मे भी धूम्र है (उपनय)।
५. अतएव अग्नि है (निगमन)

जैन तार्किक समझदारो के लिए इनमे से प्रथम के दो अवयवो का प्रयोग ही पर्याप्त मानते है। अलबत्ता किसी अबोध व्यक्ति को समझाने के लिए अधिक अवयवो का प्रयोग करना आवश्यक हो तो उनके प्रयोग मे कोई हानि नहीं समझते। मगर पांचो अवयवो के प्रयोग को वे अनिवार्य नही समझते।

३. आगम प्रमाण —[2] श्रुतज्ञान के विवेचन मे आगम प्रमाण का वर्णन किया जायेगा।

४ उपमान प्रमाण —[3] प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से अप्रसिद्ध पदार्थ का सम्यक् बोध होना उपमा या उपमान प्रमाण कहलाता है।

'गवय गौ के समान होता है' यह वाक्य जिसने सुन रक्खा है, वह व्यक्ति जब अचानक गौ के सदृश पशु को देखता है, तो पहले सुने हुए उस वाक्य का स्मरण करके झट समझ जाता है, कि यह गवय है। इस प्रकार दर्शन और स्मरण दोनो के निमित्त से होने वाला सदृशता का ज्ञान ही उपमान है।

---

१ पंचविह पण्णत्तं।
२. से किं तं आगमे, अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम्।
३ से किं त ओवम्मे, अनुयोगद्वार, प्रमाणद्वारम्।

प्रमाणो का यह वर्गीकरण तर्कानुसारी होने पर भी आगमिक है। पश्चाद्‌वर्त्ती तार्किक आचार्यो ने प्रमाण का वर्गीकरण दूसरे प्रकार से किया है। उनके अनुसार प्रमाण दो प्रकार के है, प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष प्रमाण के भी दो भेद है —साव्यवहारिक प्रत्यक्ष, और पारमार्थिक प्रत्यक्ष[1]। परोक्ष प्रमाण पाच प्रकार का है —

१. स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३. तर्क४ अनुमान और ५ आगम।

स्मरण रखना चाहिए कि इस वर्गीकरण मे भी पूर्वोक्त वर्गीकरण से कोई मौलिक या वस्तुगत पार्थक्य नही है। इसमे उपमान प्रमाण को पृथक् स्थान नही देकर, प्रत्यभिज्ञान मे सम्मिलित कर लिया गया है।

स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और तर्क उस वर्गीकरण के अनुसार साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है।

नयवाद

१. नय स्वरूप —विश्व के समस्त दर्शनशास्त्र वस्तुतत्त्व की कसौटी के रूप मे प्रमाण को अगीकार करते है। किन्तु जैनदर्शन इस सम्बन्ध मे एक नयी सूझ देता है। उसकी मान्यता है कि प्रमाण अकेला वस्तुतत्त्व को परखने के लिए पर्याप्त नही है। वस्तु की यथार्थता का निर्णय प्रमाण और नय के द्वारा ही हो सकता है। जैनेतर दर्शन नय को स्वीकार न करने के कारण ही एकान्तवाद के समर्थक बन गये है, जब कि जैनदर्शन नयवाद को अगीकार करने से अनेकान्तवादी है।

प्रमाण वस्तु की समग्रता को, उसके अखण्ड एक रूप को विषय करता है। नय उसी वस्तु के अगो को, उसके खड-खड रूपो को जानता है।

किसी भी वस्तु का पूरा और सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका विश्लेषण करना अनिवार्य है। विश्लेषण के विना उसका परिपूर्ण रूप नही जाना जा सकता। तत्त्व का विश्लेषण करना और विश्लिष्ट स्वरूप को समझना नय की उपयोगिता है।

---

१. जैन न्याय तर्क सग्रह (यशोविजय) प्रमाण खण्ड।

नयवाद के द्वारा परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले विचारो के अविरोध का मूल खोजा जाता है, और उनका समन्वय किया जाता है।

नय विचारो की मीमासा है। वह एक ओर विचारो के परिणाम, और कारण का अन्वेषण करते हैं, और दूसरी ओर परस्पर विरोधी विचारो मे अविरोध का बीज खोज कर समन्वय स्थापित करते हैं।

क्या आत्मा-परमात्मा और क्या जड पदार्थ, सभी विषयो मे परस्पर विरोधी मन्तव्य उपलब्ध होते हैं। एक जगह विधान है कि आत्मा एक है, तो दूसरी जगह कहा गया है कि आत्माए अनन्त-अनन्त हैं। ऐसे विरुद्ध दिखाई देने वाले मन्तव्यों के विषय में नयवाद अपेक्षा की नीति अपनाता है। वह विचार करता है कि किस दृष्टिकोण से आत्माए अनेक हैं? इस प्रकार के दृष्टिकोणो का अन्वेषण करके उन विचारो की सचाई का आधार खोज निकालना ही नय का काम है, अतएव नय विविध विचारो के समन्वय की पीठिका तैयार करता है। इसलिए नयवाद अपेक्षावाद भी कहलाता है।

जगत के विचारो के आदान-प्रदान का साधन नय है। प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म-स्वभाव गुण विद्यमान हैं। उनके विषय मे अनन्त अभिप्रायो को विषय करने वाले नय भी अनन्त होते हैं।

अभिप्राय यह है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को अखण्ड रूप मे जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है, तो उसी वस्तु के किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है। प्रमाण अनेकाश ग्राही है, तो नय एक अश का ग्राहक है।

२. **नय की सत्यता**—कहा जा सकता है कि अनेक अशो मे से सिर्फ एक अश को ग्रहण करने वाला नय मिथ्याज्ञान है। नय यदि मिथ्याज्ञान है तो वह वस्तुतत्त्व के निर्णय का आधार कैसे वन सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिया जा सकता है कि किसी भी नय की यथार्थता इस वात पर अवलम्बित है, कि वह दूसरे नय का विरोधी न हो। उदाहरण के लिए आत्मा को लीजिए। एक नय से आत्मा नित्य है और दूसरे नय से आत्मा अनित्य है। आत्मा का आत्मत्व शाश्वत है, उसका कभी विनाश सभव नही है, इस दृष्टिकोण से आत्मा नित्य है। किन्तु आत्मा शाश्वत होता हुआ भी अनेक रूपो मे परिवर्तित होता रहता है। कभी मनुष्य के पर्याय में उत्पन्न होता है, कभी पशु-पक्षी की योनि मे

जन्म लेना है, तो कभी नरक का कीड़ा बन जाता है। इस दृष्टिकोण से आत्मा अनित्य भी है। यहा नित्यताग्राही नय अगर अनित्यताग्राही नय का विरोध न करे, उसके प्रति उपेक्षा रखे और सिर्फ अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन तक ही सीमित रहे तो वह सम्यक्नय कहा जाएगा। इसके विपरीत, जब एक नय अपने दृष्टिकोण के प्रतिपादन के साथ दूसरे नयो के दृष्टिकोण का विरोध करता है तो ऐसा करनेवाला नय मिथ्यानय बन जाता है।

सरल शब्दो मे कहना चाहिए-कोई नय तभी तक सच्चा है, जब तक वह दूसरे को झूठा नही कहता। जब उसने दूसरे को झूठा कहा तो वह स्वय झूठा हो गया।

३. **नयभेदः**—कहा जा चुका है कि एक वस्तु मे अनन्त-अनन्त धर्म है और उसमे एक एक धर्म को ग्रहण करने वाला अभिप्राय नय कहलाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब धर्म अनन्त है तो नय भी अनन्त होने चाहिए। वास्तव मे ऐसा ही है। जगत् मे प्रचलित अभिप्राय या वचन-प्रयोग गणना मे नही आ सकते तो उनको ग्रहण करने वाले नयो की गणना भी सम्भव नही। इसीलिए जैनदर्शन कहता है:—

'जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया।'

अर्थात्-जितने वचन के पथ है, या वस्तु सम्बन्धी अभिप्राय है, उतने ही नय के प्रकार है।

फिर भी वर्गीकरण के सिद्धान्त का उपयोग किया जाय तो उन समस्त नयो को दो भागो मे बाटा जा सकता है[1]।

१ द्रव्यार्थिकनय और २ पर्यायार्थिक नय।

मूल पदार्थ द्रव्य कहलाता है और उसकी विभिन्न और देशो और कालो मे होने वाली नाना अवस्थाए पर्याय कहलाती है। समस्त विचारो की प्रवृत्ति या तो द्रव्य के द्वारा या पर्याय के द्वारा होती है, अतएव मूलभूत दो ही है।

द्रव्य नित्य है, अतएव नित्यता को ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है।

---

१ से किं तं णए ? सत्तमूलणया पण्णत्ता अनुयोगद्वार नयद्वारम्,

उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोत्थ लग्गई ॥
एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा काम लालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए ॥

—उत्तराध्ययन, अ० २५, गा० ४२-४३।

'हे साधक जिस प्रकार एक सूखी मिट्टी का और एक गीली मिट्टी का गोला दीवार मे फेंका जाय, तो गीला गोला दीवार से चिपक जाता है, सूखा नही चिपकता, उसी प्रकार जो काम-लालसा मे आसक्त, और दुष्ट-बुद्धि वाले मनुष्य होते है उन्ही को संसार का बंधन होता है और जो काम-भोग से विरत होते है, उन को बंधन नही होता।'

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति

चौदह गुणस्थान

आत्मा की क्रमिक उत्क्रान्ति—जैनधर्म का मन्तव्य है कि विश्व में अनन्त-अनन्त आत्माएँ है और उनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, वे किसी एक विराट् सत्ता का अश नही है, हाँ, सभी आत्माओ का मूल स्वभाव समान है, उसमे कोई विलक्षणता नही, भेद नही, फिर भी उनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् ही है।

प्रत्येक आत्मा का मौलिक स्वरूप एक होने पर भी ससार की आत्माओ में जो विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, वह औपाधिक है। कर्मों के आवरण की तरतमता के कारण ही आत्मा-आत्मा मे भेद दिखाई देता है। आवरण की तरतमता अनन्त प्रकार की है, अतएव आत्मा के स्वाभाविक गुणो के विकास और ह्रास की दशाएँ भी अनन्त है। फिर भी ज्ञानियो ने उन दशाओ का वर्गीकरण किया है और वह भी अनेक प्रकार से—

एक वर्गीकरण के अनुसार विकास-दशा की दृष्टि से आत्माएँ तीन प्रकार की होती है—

१. वहिरात्मा – (मिथ्यादर्शी)
२. अन्तरात्मा – (सम्यग्दर्शी)
३ परमात्मा – (सर्वदर्शी)

जैनशास्त्रो मे इन तीन प्रकार की आत्माओ की भी चौदह भूमिकाएँ वतलाई गई हैं, जिन्हे गुणस्थान कहते है। पहली से तीसरी भूमिका तक का जीव वहिरात्मा कहलाता है। सामान्यतया चौथी से वारहवी भूमिका वाला, अन्तरात्मा कहलाता है और तेरहवी तथा चौदहवी वाला परमात्मा।

गुणस्थान जैनधर्म की मौलिक देन है। चौदह गुणस्थान में आत्मा की समस्त विकास-ह्रास की अवस्थाओ के चित्र दिखलाये गए हैं। इनमे ससार की सब आत्माओ का समावेश हो जाता है। किसी भी आत्मा की कोई भी अवस्था क्यो न हो, उसका अन्तर्भाव किसी-न-किसी गुणस्थान मे हो ही जाता है।

यहाँ गुण का अर्थ है—'आत्मा की विशेषता'। आत्मा की विशेषताएँ पॉच प्रकार की है, जिन्हे जीव का भाव भी कहते है।

१. कर्मों के उदय से उत्पन्न होने वाला भाव 'औदयिक',

२. कर्म के क्षय से उत्पन्न होने वाला भाव 'क्षायिक',

३. कषाय के शमन से उत्पन्न होने वाला भाव 'औपशमिक',

४. क्षयोपशम से होने वाला भाव 'क्षयोपशमिक' तथा

५. जो कर्मो के उदय आदि से उत्पन्न न होकर स्वाभाविक हो, वह 'पारिणामिक' भाव कहलाता है।

यह पाँच प्रकार के जीव के भाव, यहाँ गुण कहे गए है। इन गुणो के स्थानो, अर्थात् भूमिकाओ को गुणस्थान समझना चाहिए।

आत्मा के विकास-प्रवाह को कोई विभक्त नही कर सकता, तो भी सुगमता के लिए उसका विभाजन किया गया है। उसी विभाजन के अनुसार चौदह गुणस्थान इस प्रकार हैं—

१. मिथ्यात्वगुणस्थान — मिथ्यादृष्टि।
२. सास्वादन गुणस्थान — सासादनसम्यग्दृष्टि।
३ मिश्रगुणस्थान — सम्यग-मिथ्यादृष्टि
४. अविरतसम्यग्दृष्टि — असयत सम्यग्दृष्टि।
५. देशविरति — सयतासंयत।
६. सर्वविरति गुणस्थान — प्रमतसयत।
७. अप्रमत गुणस्थान — अप्रमतसयत
८. अपूर्वकरण —
९. अनिवृत्तिकरण गुणस्थान — अनिवृत्ति वादरसाम्पराय।
१०. सूक्ष्मसम्पराय —

११	उपशान्तमोह गुणस्थान	–	उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ।
१२	क्षीणमोह	–	क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ।
१३	सयोगिकेवली	–	सशरीरमुक्त (जीवन्मुक्त)
१४.	अयोगिकेवली	–	अशरीरीसिद्ध (पूर्णमुक्त)

१ **मिथ्यात्वगुणस्थान**—जब आत्मा में यथार्थ विश्वास और यथार्थ बोध के स्थान पर अयथार्थ आग्रह से एकान्तता का अभिनिवेश, पक्षान्धता आदि दुर्गुणो का समावेश होता है, उस समय की जीव की स्थिति मिथ्यात्वगुणस्थान है।

मिथ्यात्वी सत्य को असत्, धर्म को अधर्म और कल्याण को अकल्याण मानता है। वह आत्मिक साधना के विषय मे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य होता है। जीव की यह मूढ दशा अथवा विकारो की विपरीत दशा मिथ्यात्व है।

ससार की अधिकाश आत्माएँ इसी गुणस्थान मे है। यद्यपि आत्मा के क्रमिक विकास मे मिथ्यात्व को गुणस्थान का पद नही मिलना चाहिए, मगर 'गुण' शब्द साधारण है और उसमे लौकिक व अलौकिक सभी का समावेश होता है, इस कारण उसे भी गुणस्थान ही कहा है। यही आत्मसाधना की प्राथमिक भूमिका है। यही से आत्मा मिथ्यात्व का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करके चतुर्थ गुण-स्थान पर पहुँचती है।

क्षय का अर्थ है 'नष्ट करना' और उपशम का अर्थ है 'शान्त करना' 'दबा देना'। यह ध्यान रखना चाहिए कि मिथ्यात्व का क्षय करके सम्यक्त्व की ओर आगे बढने वाली आत्मा का फिर सम्यक्त्व से पतन नही होता, मगर उप-शम करके आगे बढने वाली आत्मा का पतन अवश्यभावी है।

२. **सास्वादन-गुणस्थान**—जिस आत्मा ने मिथ्यात्व का क्षय-विनाश नही किया था, किन्तु मिथ्यात्व को शान्त करके सम्यक्त्व की भूमिका प्राप्त की थी, उसका दबाया हुआ मिथ्यात्व थोड़ी-सी देर मे फिर उभर आता है और वह आत्मा सम्यक्त्व से पतित हो जाती है, जब वह सम्यक्त्व से गिर जाती है परन्तु मिथ्यात्व की भूमिका पर नही पहुँच पाती, पतन के पथ पर बढ रही है, फिर भी सम्यक्त्व का किंचित् रसास्वादन कर रही है, उस समय की आत्मा की दशा सास्वादन गुणस्थान है। यह स्थिति बहुत थोडी देर तक ही रहती है।

३. **मिश्र गुणस्थान**—किसी-किसी आत्मा मे ऐसे अर्धसत्य-मिश्रित अध्यवसाय उत्पन्न होते है, जिनमे सत्य और असत्य दोनो का ही मिश्रण होता है। वह दोलायमान अवस्था मिश्र गुणस्थान कहलाती है। यह गुणस्थान मिथ्यात्व से ऊँचा है, किन्तु पूर्ण विवेक के अभाव मे सत्य के प्रति दृढ प्रतीत नही होने से इसमे स्थिति डावाडोल रहती है।

४. अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान—सम्यग्दर्शन विघातक मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम करके जिस आत्मा ने सम्यग्दर्शन-शुद्ध श्रद्धा की प्राप्ति कर ली है, किन्तु चारित्र विघातक-मोहनीय कर्म का क्षय न कर सकने के कारण जो व्रत अंगीकार नही कर सकती, उस आत्मा की अवस्था अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाती है।

सम्यग्दर्शन क्या है? यह अन्यत्र बतलाया जा चुका है। मुक्ति के तीन कारणो मे यह अनन्यतम है। यहाँ से मुक्ति की साधना आरम्भ होती है। अविरत-सम्यग्दृष्टि जीव भले संयम का आचरण नही कर सकता, फिर भी उसे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह आत्मा-अनात्मा एव हित-अहित के विवेक से सम्पन्न होता है। भोगो से पिण्ड नही छुडा पाता, फिर भी उनमें अलिप्त रहता है। वह अपने विचारो पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। आर्त जीवो की पीड़ा देखकर उसके हृदय से करुणा का विमल स्रोत प्रवाहित होने लगता है। उसका लक्ष्य और बोध शुद्ध हो जाता है और वह सयम के पथ पर चलने को उत्कंठित रहता है।

५ देशविरति गुणस्थान—वही सम्यग्दृष्टि जीव जब अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रतो का आशिक रूप से पालन करने मे समर्थ हो जाता है—गृहस्थधर्म का आचरण करने लगता है, सूक्ष्म पाप का त्याग न कर सकने पर भी स्थूल पाप का त्याग कर देता है, तव वह इस गुणस्थान मे पहुँचता है। इस गुणस्थान वाले के चारित्र का स्वरूप चारित्र के प्रकरण मे विस्तार से बतलाया गया है।

६. प्रमत्तगुणस्थान—आत्मा को अपनी हीनता पर विजय पाने का विश्वास हो जाता है, तव वह अपनी अपूर्णताओ को समाप्त करके सर्वत महा-व्रती वन जाता है, सूक्ष्म पापो का भी परित्याग कर देता है। उस समय वह प्रमतगुणस्थान मे होता है। साधक इस गुणस्थान मे साधु तो बन जाता है, किन्तु प्रमाद के वल को समाप्त नही कर पाता।

प्रमाद पाँच प्रकार का है जैसे कि :—

आलस्य, कषाय, निद्रा, विकथा, इन्द्रिय-भोगो के कारण कर्त्तव्य के प्रति मन मे अनादर का भाव उत्पन्न होना प्रमाद है। अर्थात्—

१ मद्य	–	मादकता-सम्बन्धी।
२. विषय	–	मोह और कामुकता के जनक रूप, रस आदि।
३. कषाय	–	क्रोध, मान, कपट, लोभ।

४. निद्रा — आलस्य।

५. स्त्री, भोजन आदि के विषय मे निष्प्रयोजन बातें करना।

सम्यग्दृष्टि और व्रती होने पर भी प्रमाद का अस्तित्त्व होने से इसे प्रमत्तगुणस्थान कहते हैं।

७. अप्रमत्तगुणस्थान—आत्मार्थी साधक की परम पवित्र भावना के बल पर कभी-कभी ऐसी अवस्था प्राप्त होती है कि अन्त.करण मे उठने वाले विचार नितान्त शुद्ध और उज्ज्वल हो जाते हैं और प्रमाद नष्ट हो जाता है। वह आत्मचिन्तन मे सावधान रहता है। उस समय की स्थिति अप्रमतगुणस्थान है। यह दो प्रकार के होते है—

१. स्वस्थान अप्रमत्त, २. सातिशय अप्रमत्त।

स्वस्थान अप्रमत्त साधक छठे गुणस्थान मे सातवें में बार-बार चढना और फिर छठे मे उतरता है। जब आत्मिक तल्लीनता की स्थिति मे पहुचता है तो सातवें गुणस्थान पर चढ जाता है और जब वह तल्लीनता नही रहती और गमनागमन, भाषण, भोजन आदि बाहर की किसी क्रिया में व्याप्त होता है तो छठे गुणस्थान मे उतर आता है। किन्तु भावो का रूप अत्यन्त शुद्ध बन जाता है तो साधक सातिशय अप्रमत होकर अस्खलित गति मे ऊपर चढता है। उस समय वह सातिशय अप्रमत्त कहलाता है।

सातिशय अप्रमत्त साधु के ऊपर चढने के भी दो प्रकार है—जिन्हें आगम की परिभाषा मे उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी कहते है।

जो साधक चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम करता हुआ और ऊपर चढता है, वह आठवे, नौवे, दसवे और ग्यारहवें गुणस्थान तक जा पहुचता है, किन्तु वहाँ उसकी प्रगति रुक जाती है और वह नीचे गिरता है, शान्त हुए कर्म फिर जागृत हो जाते है, अत. उसे नीचे आना ही पडता है, किन्तु जो साधक मोहनीय कर्म का क्षय करता हुआ ऊपर चढता है, वह दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवे गुण-स्थान मे पहुचकर तेरहवें गुणस्थान मे जा पहुचता है और परमात्मदशा प्राप्त कर लेता है।

८. अपूर्वकरण—यहाँ करण का अभिप्राय अध्यवसाय, परिणाम या विचार है, अभूतपूर्व अध्यवसायो का उत्पन्न होना अपूर्वकरण गुणस्थान है। इस गुणस्थान मे चारित्र मोहनीय कर्म का विशिष्ट क्षय या उपशम करने से साधक को विशिष्ट भावोत्कर्ष प्राप्त होता है। इस गुणस्थान मे विभिन्न समयवर्ती जीवो

के परिणामो मे विसदृशता अथवा एक समयवर्ती जीवो मे विसदृशता और कभी सदृशता भी पाई जाती है।

९. **अनिवृत्तिकरण**--सातवे गुणस्थान मे जब सातिशय अप्रमत अवस्था आती है तो साधक के परिणाम उत्कृप्ट हो जाते है, किन्तु इस स्थान मे उत्पन्न हुए भावोत्कर्प की निर्मल विचारधारा और भी तीव्र हो जाती है। इस गुणस्थान मे विचारो की तरतमता नप्ट हो जाती है। विचारो की सामान्यगामिनी वृत्ति केन्द्रित और सम समान हो जाती है। यहाँ साधक की सूक्ष्मतर और अव्यक्ततर काम-सम्बन्धी वासना, जिसे वेद भी कहते हैं, समूल विनप्ट हो जाती है।

१०. **सूक्ष्मसम्पराय**--मोहनीय कर्म का क्षय या उपशम करके आत्मार्थी साधक जब समस्त कषाय को नष्ट कर देता है, केवल लोभ का अतिशय सूक्ष्म अश ही शेष रह जाता है। उसी आत्मोत्कर्ष की ऊँची अवस्था का नाम सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान है।

११ **उपशान्तमोह गुणस्थान**--कोई योद्धा शत्रु-सेना को नष्ट करके किसी प्रयोग से थोडी देर के लिए बेहोश करता हुआ उसके व्यूह मे प्रवेश करता है। उसकी क्या स्थिति होती है ? शत्रु-सेना थोडी देर मे होश मे आकर उसे घेर लेती है और उसका फल है उस योद्धा का अन्त होना। इसी प्रकार जो साधक मोहनीय कर्म को नष्ट (क्षीण) न करके, सिर्फ उपशान्त करके आगे बढता है, उसका भी अवश्य पतन हो जाता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ऐसा साधक थोडी-सी देर इस ग्यारहवे गुणस्थान मे रहकर और समस्त मोह को पूर्ण रूप से उपशान्त करके भी नीचे गिर जाता है।

१२ **क्षीणमोह गुणस्थान**--मोहकर्म क्षय करता हुआ आत्मा, दसवे गुणस्थान मे अवशिष्ट लोभाश का भी जब क्षय कर देता है और पूर्ण वीतरागता के उच्च शिखर पर आसीन हो जाता है, तो इस गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

मोहकर्म समस्त कर्मों मे प्रधान है, और वही समस्त कर्मों को आश्रय दिया करता है, बारहवे गुणस्थान में उसके क्षीण होने पर थोडी-सी देर मे ही में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक तीन कर्म भी नष्ट हो जाते है।

१३ **सयोगी केवली गुणस्थान**--ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि के क्षय हो जाने से इस गुणस्थान मे आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अनन्त आध्यात्मिक वीर्य से सम्पन्न हो जाता है। यह जीवनमुक्त की दशा है।

इस गुणस्थान मे सयोग शब्द जोडने का अभिप्राय यह है कि मन, वचन और काय का यहाँ व्यापार-स्पन्दन होता रहता है।

१४. अयोगीकेवली गुणस्थान—इस गुणस्थान का काल अत्यन्त थोडा है। अ, इ उ, ऋ, लृ, इन पाँच ह्रस्व-स्वरो का मध्यम वेग से उच्चारण करने मे जितना समय लगता है, बस उतना ही इस गुणस्थान का समय है। इस गुणस्थान में काय और वचन का व्यापार तो निरुद्ध हो ही जाता है, पर मानसिक वृत्तियाँ भी पूरी तरह नष्ट हो जाती हैं। आत्मा अपने मूल स्वरूप मे स्थिर हो जाता है। ससार-दशा का अन्त हो जाता है। शेष चारो नाम, गोत्र, अन्तराय और आयुष्य आदि अघातिक कर्म भी नष्ट हो जाते है।

गुणस्थान का अन्त होना ही जन्म-मरण का अन्त होना है। आत्मा विदेह अवस्था प्राप्त कर शाश्वत मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

गुणस्थानो के सम्बन्ध मे विचार करने से आत्मा के उत्क्रान्ति क्रम की कल्पना आ सकेगी। प्रत्येक आत्मा पहले-पहल प्राथमिक भूमिका मे होता है। तत्पश्चात् आत्मबल प्रकट होने पर उभर आता है। चतुर्थ भूमिका मे आने पर उसकी दृष्टि यथार्थ हो जाती है। दृष्टि सिद्ध होने के पश्चात् वह क्रियात्मक रूप से मुक्तिपथ पर चलना आरम्भ करता है और बारहवे गुणस्थान मे निरावरण होकर तेरहवे गुणस्थान में सशरीर परमात्मा बन जाता है। चौदहवे गुणस्थान के अन्त में मुक्तिधाम प्राप्त कर लेता है।

उत्क्रान्ति के इस क्रम से यह भी स्पष्ट होगा कि जैनधर्म ने किसी एक को अनादि सिद्ध परमात्मा स्वीकार नही किया है। प्रत्येक प्राणी अपने पुरुषार्थ द्वारा परमात्मपद पाने का अधिकारी है।



'अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाणय सुहाणय।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिये, सुपट्ठिओ!'

आत्मा ही सुख और दु:ख को उत्पन्न करने, और न करने वाला है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से अमित्र (शत्रु) है।

—उत्तराध्ययन २०, ३७।

मानव अपने भाग्य का स्वयं विधाता है। अदृष्ट अथवा किसी अन्य प्रकार की रहस्यात्मक सत्ता की पराधीनता को जैनधर्म स्वय एक मानसिक दासता समझता है। शुभ-कर्म और अशुभ-कर्म फल देने की शक्ति स्वय रखते है। जैसे परमाणु और परमाणुओं के परिवर्तन की शक्ति परमाणु से भिन्न किसी सत्ता के पास मे नही होती है। परिवर्तित होना, यह तो परमाणु का ही स्वयं का गुण है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर, देव आदि किसी के माध्यम और किसी के अनुग्रह पर हमारा भाग्य अवलम्बित नही है और अपने भाग्य का विधान हमने स्वय निर्माण किया है। हमारी क्रिया, हमारे यौगिक-स्पन्दन, काषायिक सस्पर्श तथा हमारा वातावरण और भावना की मंदता या तीव्रता, कर्म के परमाणुओ का हमारी आत्मा के साथ मे बन्धन जोडते है, जो अवसर प्राप्त होते ही हमारे अन्तर्मन को फल की ओर प्रेरित कर देते है। यह निश्चित है कि जैनधर्म आत्मा को कर्म करने मे स्वतत्र मानता है, किंतु भोगने मे आत्मा कर्मो के आधीन हो जाती है। 'शुभ करो, शुभ होगा'—'अशुभ करो, अशुभ होगा' यही कर्मवाद का सिद्धान्त है।

कर्मवाद



कर्मवाद

सभी आस्तिक दर्शनो ने एक ऐसी सत्ता अंगीकार की है जो जीवतत्त्व को प्रभावित करती है। उसे स्वीकार किये विना जीवो मे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाली विपमता की, तथा एक ही जीव में विभिन्न कालो मे होने वाली विरूप अवस्थाओ की सगति किसी भी प्रकार सभव नही है। सव जीव स्वभावत समान हैं तो एक मनुष्य और दूसरा कीट के रूप मे क्यो है ? अगर जीव नित्य है तो मृत्यु उसे क्यो अपना शिकार वना लेती है ? अगर विराट् चैतन्य उसका स्वरूप है तो जडता और अज्ञान के गहन अधकार मे जीव क्यो ठोकरे खा रहा है ? अमूर्त्त है तो शरीर के कारागार मे क्यो वद्ध है ? इस प्रकार की प्रश्नमाला जीव-विरोधी दूसरी सत्ता को स्वीकार किये विना समाधान नही पाती।

वह सत्ता वेदान्त मे माया या अविद्या, साख्य मे प्रकृति और वैशेषिक दर्शन मे अदृष्ट नाम से अँगीकार की गई है। जैनदर्शन उसे 'कर्म' कहता है। प्रत्येक दर्शन मे उस सत्ता का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का है। किन्तु जैनदर्शन में कर्म का जैसा सागोपाग और तर्क-सगत विवेचन है, वह अन्यत्र कही नही देखा जाता। जैनाचार्यों ने कर्म-सिद्धान्त पर विपुल साहित्य-सृजन किया है।

पुद्गल द्रव्य की अनेक जातियाँ है, जिन्हे जैनपरिभाषा मे वर्गणाए कहते हैं। उनमे एक कार्मण-वर्गणा भी है और वही कर्म-द्रव्य है। कर्मद्रव्य सम्पूर्ण लोक

में सूक्ष्म रज के रूप मे व्याप्त है। वही कर्मद्रव्य योग के द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ बद्ध हो जाते हैं और 'कर्म' कहलाने लगते हैं।

कर्म विजातीय द्रव्य होने के कारण आत्मा मे विकृति उत्पन्न करते हैं, और उसे पराधीन बनाते है। आत्मा—पर पदार्थों का उपभोग करता हुआ—राग-द्वेष के कारण किसी को सुखरूप और किसी को दु खरूप मानता है। सुख-दु ख की वह अनुभूति तो तत्काल ही समाप्त हो जाती है, किन्तु अवशिष्ट रहे हुए सस्कार समय आने पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं।

ससार के प्राणियो की प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे राग-द्वेष की वृत्ति काम करती है। वही प्रवृत्ति अपना एक सस्कार छोड़ जाती है। उस संस्कार से पुनः प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से पुनः संस्कार का निर्माण होता है। इस प्रकार बीज और वृक्ष की तरह यह सिलसिला सनातन काल से चला आ रहा है।

कर्म सिद्धान्त की भाषा मे यही बात यों कही जाती है—कर्म दो प्रकार के है[1]—

१ द्रव्यकर्म (कर्मवर्गणाएं) और भावकर्म अर्थात् राग-द्वेष आदि विषय भाव। दोनो मे द्विमुख कार्य-कारण भाव है। द्रव्यकर्म से भाव कर्म और भाव कर्म से द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होती है। आशय यह है कि पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म जब अपना विपाक देते है तो जीव मे भावकर्म—रोषादि विभाव—उत्पन्न होते हैं और उन भाव-कर्मों से पुनः द्रव्यकर्म उत्पन्न हो जाते हैं। यह क्रम अनादि है, परन्तु उसका अन्त हो सकता है।

कर्मबद्ध आत्मा, विश्व की समस्त वस्तुओ को अनुकूल और प्रतिकूल मानकर दो भागो मे बाट लेता है। वह कभी नही सोचता कि मैं संसार के जीवो के लिए अनुकूल हूँ या प्रतिकूल हूँ; किन्तु ससार के पदार्थजात को और प्राणीजाति को अवश्य दो भागो में विभक्त कर लेता है। उसकी विचार लहरियों की परिसमाप्ति यही नही हो जाती, अपितु वह अनुकूल समझे हुए पर राग करता है, और प्रतिकूल समझे हुए को संसार से मिटा देना चाहता है। यही राग-द्वेष वृत्तियों का उद्गमस्थल है। इन्ही वृत्तियो से कर्मद्रव्यो का आकर्षण होता है और अनन्त-अनन्त दुःखों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार जब तक आत्मा मे राग-द्वेष की सत्ता है तब तक प्रत्येक क्रिया कर्म का रूप धारण कर आत्मा के लिए बन्धनकारक बनती ही जाएगी।

---

१. द्रव्य-संग्रह, गा० ३१-३२।

फल देने के लिए कर्मो को किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा नही है, और न ही किसी की आज्ञा की आवश्यकता है। कोई मनुष्य मद्यपान करता है, तो उन्माद उत्पन्न करने के लिए मदिरा को किसी की सहायता नही चाहिए। उसके सेवन से ही मनुष्य मे उन्मत्तता आ जाती है, दुग्धसेवन से पोषण मिलता है, भोजन से क्षुधानिवृत्ति होती है और पानी से तृषा शान्ति होती है। इन सब जड पदार्थों को अपना फल देने के लिए किसी अन्य सहारे की तलाश नही करनी पडती। इसी प्रकार जड़ होने पर भी कर्म स्वय ही अपना फल प्रदान करते है।

कर्म करने की स्वतन्त्रता जीव को प्राप्त है, किन्तु फल देने की सत्ता कर्म अपने पास सुरक्षित रखता है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि भोजन करते समय किसी प्रकार का अवांछनीय काषायिक आवेग, क्रोध आदि नही होना चाहिए और मानसिक सन्ताप के होने पर भोजन विष बन जाता है। भोजन के समय मन शान्त, प्रशस्त एव मध्यस्थ हो तो भोजन अमृत बन जाता है। यही बात कर्म के सम्बन्ध मे भी समझी जा सकती है। अन्त करण मे जैसे-जैसे शुभ या अशुभ, प्रशस्त या अप्रशस्त भाव होते है, उसी प्रकार का कर्म-रस वनता है, तो जैसे हमारे मनोवेग भोजन के रस को शुभ या अशुभ बना देते है, उसी प्रकार वे कर्मो को भी शुभ या अशुभ, रूप मे परिणत कर देते है।

कर्मवन्ध का प्रधान कारण मन है, और उसके सहायक वचन तथा काय है। मन, वचन और काय की अनन्त-अनन्त वृत्तियाँ शुभ भी होती है और अशुभ भी होती है।[1] हिंसा, चोरी, मैथुन आदि काय के अशुभ व्यापार है दया, सेवा, ब्रह्मचर्य कषाय के शुभ व्यापार है (असत्य और कटु भाषण) वाणी का अशुभ व्यापार है और निरवद्य, सत्य एव मधुर भाषण वाणी का शुभ व्यापार है। किसी के वध, वन्धन आदि का विचार करना मानसिक अशुभ व्यापार है और भलाई सोचना तथा पर का उत्कर्ष देखकर प्रसन्न होना आदि शुभ व्यापार है। शुभ व्यापारो से पुण्य कर्म का और अशुभ व्यापार से पापकर्म का वन्ध होता है। परन्तु यह नही भूल जाना है कि शुभ अशुभ कर्म के बन्ध का मुख्य आधार मनोवृत्तियाँ ही है।

एक डाक्टर किसी को पीड़ा पहुचाने के लिए उसका व्रण चीरता है। उससे चाहे रोगी को लाभ ही हो जाए, परन्तु डाक्टर तो पाप कर्म के वन्ध का ही

---

१. द्रव्यसंग्रह, गा० ३८।

भागी होगा। उसके विपरीत, वही डाक्टर अगर करुणा से प्रेरित होकर व्रण चीरता है और कदाचित् उससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो भी डाक्टर अपनी शुभ भावना के कारण पुण्य का बन्ध करता है।

कर्मबन्ध के मुख्य दो कारण हैं—कषाय और योग[१]। दूसरे सब कारण इन्ही दो मे अन्तर्भूत हो जाते हैं। दसवे गुणस्थान तक इन दोनो कारणो की सत्ता रहती है। आगे के गुण स्थानो मे सिर्फ योग ही कारण होता है। अतएव जो कर्माणु कषायो और योग से बंधते है, वे साम्परायिक कर्म कहलाते हैं, और जो कषाय के अभाव मे सिर्फ गमनागमन आदि क्रियाओ के कारण बधते है, वे ईर्यापथिक कर्म कहलाते है।

उच्चकोटि के साधक की स्थिति कषायो की सीमा लाघकर समभावी भी हो जाती है और उस समय उसकी क्रिया भिन्न ही प्रकार की होती है। इस तथ्य को समझने के लिए जैनशास्त्रो मे एक उदाहरण प्रसिद्ध है—

आत्मा को स्वच्छ दीवार, कषायों को गोद और योग को वायु मान लिया जाय तो बन्ध की व्यवस्था सरलता से समझ मे आ जायगी। आत्मा-रूपी दीवार पर जब कषायो का गोद लगा रहता है तो योग की आँधी से उड़कर आई हुई कर्म-रूपी धूल चिपक जाती है। वह चिपक जितनी सबल या निर्बल होगी, बन्ध भी उतना ही प्रगाढ़ या शिथिल होगा और धूल श्वेत या काली जैसी भी होगी, वैसी चिपकेगी। हाँ, कषाय का गोद यदि हट जाय और दीवार सूखी रह जाय तो धूल का आना-जाना तो नही रुकेगा, किन्तु चिपकना बन्द हो जाएगा। बस, यही अन्तर है साम्परायिक और ईर्यापथ कर्मो मे। कर्म परमाणुओ का आना योगशक्ति के बलाबल पर निर्भर है। किन्तु बन्धन की तीव्रता-मन्दता या चिपकन कषायो के भावाभाव पर निर्भर है।

बन्धतत्त्व के विवेचन मे बतलाया जा चुका है कि स्थितिबन्ध और रस-बन्ध कषाय से होता है। जब कषायो की सत्ता नही रहती फिर न तो कर्म आत्मा मे ठहरते है और न उनका अनुभव ही होता है, योग के विद्यमान रहने से कर्म आते तो है, मगर ठहर नही पाते है।

वास्तव मे जन्म-मरण का मुख्य कारण कषाय है। कषाय के अभाव में

---

१. जोग बंधे, कषाय बंधे।

योग लंगडे से हो जाते है। कषायो का अन्त होते ही आत्मा की पूर्णता प्राप्त हो जाती है और घातिक कर्मो का विध्वस हो जाता है।

घातिक और अघातिक शब्दो से कर्मों की आक्रमण-शक्ति और बर्बरता को तथा मन्दता को सूचित किया गया है। जीव की अनन्त ज्ञान दर्शन आदि शक्तियो का घात करने वाले कर्म घातिक कहलाते है। उनमें कुछ सर्व-घाती होते हैं और कुछ देशघाती। कुछ कर्म ऐसे हल्के होते है जो जीव के गुण विकास मे बाधक नही होते अथवा व्याघात नही पहुचाते। वे अघातिक कहलाते हैं। उनकी विद्यमानता से सम्पूर्ण मुक्ति नही हो पाती, तथापि वे सहज ही नष्ट हो जाते है। वे जीवन्मुक्ति मे बाधक नही होते हैं।

कर्मो का वर्गीकरण—कर्म मूलत एक ही प्रकार के होने पर भी जीव के अध्यवसायो और मनोविकारो की तरतमता के कारण अनेक प्रकार के हो जाते हैं। अध्यवसाय और मनोविकार एक ही प्राणी के पल-पल मे पलटते रहते है, अतएव उनकी कोई सख्या निर्धारित नही की जा सकती है, फिर जगत् के जीव अनन्त है। क्योकि कर्मो का स्वभाव, स्थितिकाल परिमाण और प्रभाव अध्य-वसायो के अनुरूप ही निश्चित होता है। तथापि सुगमता से समझने के उद्देश्य से स्वभाव के आधार पर कर्म के आठ विभाग किये गए है[1]—

१ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयुष्य, ६. नाम, ७ गोत्र, ८ अन्तराय।

कर्मों का स्वभाव—

१. ज्ञानावरण—बादलो का बवडर जैसे सूर्य को आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार जो कर्म पुद्गल हमारे ज्ञानतन्तुओ को सुप्त और चेतना को मूर्च्छित बना देते है, वे ज्ञानावरण स्वभाव वाले कहलाते है। ज्ञान पाँच प्रकार के है, अतएव उसे आवृत करने वाला ज्ञानावरण कर्म भी पाँच प्रकार का है[2]—

१ मतिज्ञानावरण, २ श्रुतज्ञानावरण, ३. अवधिज्ञानावरण, ४ मनः पर्यायज्ञानावरण, ५ केवलज्ञानावरण।

२ **दर्शनावरण**—राजा के दरबार मे जाते हुए पुरुष को जैसे द्वारपाल

---

१. प्रज्ञापनासूत्र, पद २१, उ० १, सू० २९९

२ उत्तराध्ययन, सूत्र अ० ३३, गा० २-३।

रोक देता है और राजा के दर्शन मे बाधक होता है, उसी प्रकार जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण का बाधक हो, वह दर्शनावरण कहलाता है ।

ज्ञान से पहले होने वाला वस्तु का निर्विशेष बोध, जिसमे सत्ता के अतिरिक्त किसी विशेष धर्म की प्राप्ति नही होती, दर्शन कहलाता है। दर्शनावरण कर्म से आवृत करता है। यह नौ प्रकार का है[1]—

१. चक्षुदर्शनावरण—नेत्रशक्ति को अवरुद्ध करने वाला ।

२ अचक्षुदर्शनावरण—नेत्र के अतिरिक्त शेष इन्द्रियो की सामान्य अनुभवशक्ति का अवरोध करने वाला ।

३. अवधिदर्शनावरण—सीमित अतीन्द्रिय दर्शन को रोकने वाला ।

४ केवलदर्शनावरण—परिपूर्ण दर्शन को आवृत करने वाला ।

५. निद्रा—सामान्य नीद ।

६. निद्रा—निद्रा गहरी नीद।

७. प्रचला—बैठे-बैठे आ जाने वाली निद्रा।

८. प्रचलाप्रचला—चलते-फिरते भी आ जाने वाली निद्रा ।

९ स्त्यानगृद्धि—जिस निद्रा मे प्राणी बडे-बडे बलसाध्य कार्य कर डालता है, जागृतिदशा की अपेक्षा अनेक गुणा अधिक बलवान् हो जाता है ।

यह पाच प्रकार की निद्राए, दर्शनावरण कर्म के उदय का फल हैं ।

३ **वेदनीय**—तलवार की धार पर लगे शहद के समान सासारिक सुख की और दु.ख की वेदना इसी कारण होती है। इसके दो भेद हैं—साता-वेदनीय और असातावेदनीय।[2] सुख-रूप सवेदना का कारण सातावेदनीय और दुख रूप सवेदना का कारण असाता-वेदनीय कर्म कहलाता है।

४ **मोहनीय**—मोह एक उन्मादजनक विलक्षण मदिरा है, जो प्राणीमात्र को विवेक विकल बना देता है । यह दो प्रकार का है—

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय[3]—

सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव न होने देना अथवा उसमे विकृति उत्पन्न करना, दर्शनमोहनीय कर्म का काम है। यह तीन प्रकार का है।[4]

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३, स्थानांग सूत्र, स्थान ९ ९१८।
२ उत्तराध्ययन, सूत्र, अ०३३ प्रज्ञापना, सूत्र, पद २९, उ० २, सू० २९३।
३ उत्तराध्ययन, सूत्र, अ० ३३, प्रज्ञापना, सूत्र, पद २९, उ० २, सू० २९३।
४ उत्तराध्ययन, सूत्र, अ० ३३, प्रज्ञापना, सूत्र, पद २९, उ० २, सू० २९३।

१ मिथ्यात्व मोहनीय —सत्य में असत्य एव अतत्त्व मे तत्त्व की प्रतीति करना।

२. सम्यक्-मिथ्यात्व मोहनीय—सत्य और असत्य मे मिश्रित श्रद्धा रखना।

३ सम्यक्त्व मोहनीय —सम्यग्दर्शन मे अशुद्धता पैदा करने वाला।

चारित्रमोहनीय कर्म भी दो प्रकार का है—कषाय-चारित्रमोहनीय और नौ कषाय चारित्रमोहनीय—क्रोध, मान, माया और लोभ, यह चार कषाय हैं। इन चारो के भी चार-चार प्रकार है, जिनका वर्णन कषाय प्रकरण मे किया जाएगा। इस प्रकार ४×४=१६ कषायो का जनक कषाय मोहनीयकर्म भी सोलह प्रकार का है।[1]

कषाय को भडकाने वाली नौ मनोवृत्तियाँ है। जिन्हे नौ कषाय कहा गया है। वे ये हैं[2]—

१ हास्य — जिससे हँसी आवे।
२. रति — अनुरक्ति-स्नेह राग।
३ अरति — जिससे अरुचि, द्वेष उत्पन्न हो।
४. शोक — जिसके कारण शोक का भाव उत्पन्न हो।
५. भय — जिसके कारण भीति उत्पन्न हो।
६. जुगुप्सा — जिसके कारण घृणा उत्पन्न हो।
७ स्त्रीवेद — जिसके कारण पुरुष से सहवास करने की इच्छा हो।
८ पुरुषवेद — जिसके कारण स्त्री से सहवास करने की इच्छा हो।
९ नपुसकवेद — जिसके कारण स्त्री-पुरुष दोनो के सहवास की कामना उत्पन्न हो।

यह सव मिलकर मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद है। यह कर्म प्राणी की वास्तविक श्रद्धा-विवेक को जागृत नही होने देता और साथ ही विविध प्रकार के मनोविकारो को उत्पन्न करके सम्यक् चारित्र को नही पनपने देता। मोहकर्म इतर कर्मो का जनक और वडा प्रवल है।

---

१ प्रज्ञापना सूत्र, पद २३, तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ८, ९।

२ प्रज्ञापना सूत्र, पद २३ तत्वार्थ सूत्र, अ० २।

५ आयुकर्म—लोहे की वेडी के समान है, जिसके खुले विना स्वाधीनता के सुख का अनुभव नही हो सकता। यह कर्म जीव को मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारकी के शरीर मे नियत अवधि तक कैद रखता है।[1] हमारी यह जीवित दशा इसी कर्म का फल है।

६ नामकर्म—चित्रकार विभिन्न रग सजो-संजो कर अपनी तूलिका की सहायता से नाना प्रकार के चित्र बनाता है, उसी प्रकार नामकर्म जगत् के प्राणियों के नाना आकार प्रकार वाले शरीरो की रचना करता है। प्राणी सृष्टि मे जो आश्चर्यजनक वैचित्र्य हमे दिखाई देता है, उसका कारण यही कर्म है। जैनागमो में इसके अनेक प्रकार से भेद-प्रभेद दिखलाये गये हैं। उन सबका उल्लेख न करके यहाँ ४२ भेदो को ही वतला देना पर्याप्त होगा।[2]

१. गति नाम कर्म—जिसके प्रभाव से जीव मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नारकी चार गतियो मे से एक गति पाता है।

२ जाति नाम कर्म—जिसके कारण जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि पर्याय प्राप्त करता है।

३. शरीर नाम कर्म—जिससे जीव के पांच प्रकार के शरीरो मे से गति के अनुरूप शरीर प्राप्त होते हैं।

४. अंगोपाग नाम कर्म—इस कर्म के प्रभाव से शरीर के अगो और उपागो का निर्माण होता है।

५. बन्धन नाम कर्म—यह वह कर्म है जिसके कारण पूर्व-गृहीत पुद्गलो के साथ नवीन ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलो का सम्बन्ध होता है।

६. सघात नाम कर्म— जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गल व्यवस्थित रूप से स्थापित हो जाए।

७. संहनन नाम कर्म—इससे शरीर के अस्थिपजर की दृढ या शिथिल रचना होती है।

८. सस्थान नाम कर्म—इससे शरीर की नाना प्रकार की आकृतियाँ बनती हैं।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३, प्रज्ञापना सत्र, २३।

२. प्रज्ञापना सूत्र सं० २९३।

९. वर्ण नाम कर्म—इस कर्म से शरीर मे गोरा-काला आदि रग उत्पन्न होता है।

१०. गध नाम कर्म—इस कर्म से शरीर मे विशिष्ट गन्ध उत्पन्न होती है।

११. रस नाम कर्म—यह शरीर मे रस उत्पन्न होने के कारण है।

१२ स्पर्श नामकर्म—इससे शरीर मे किसी विशेष प्रकार का स्पर्श उत्पन्न होता है।

१३ आनुपूर्वी नाम कर्म—नया शरीर धारण करने के लिए जीव को किसी नियत स्थान पर पहुचाने वाला।

१४ विहायोगति नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल अच्छी या वरी हो।

यह चौदह भेद पिण्ड प्रकृतियो के नाम से प्रसिद्ध है, क्योकि इनमे से प्रत्येक के अनेक भेदोपभेद होते है।

१५. अगुरुलघु नाम कर्म—हमारा शरीर शीशे (धातु) की तरह एकदम भारी और आक की रूई की तरह एकदम हल्का नही है, यह इस कर्म का फल है।

१६ उपघात नाम कर्म—अगुली मे छठी अगुली की तरह "अपना ही अग अपने को पीडा कारक होना", इस कर्म का फल है।

१७. पराधान नाम कर्म—जिसके फल स्वरूप शरीर के अवयव पर पीडा-कारी न वने।

१८ आतपनाम कर्म—उष्ण प्रकाश रूप शरीर वनाने वाला।

१९ शीतल प्रकाशमय—शरीर के निर्माण का कारण।

२० उच्छ्वास नाम कर्म—हम जो श्वासोच्छ्वास लेते है, वह इसी कर्म का अनुभव है।

२१ निर्माण नाम कर्म—जिससे अग सुघड एव यथायोग्य वनते है।

२२. तीर्थकर नाम कर्म—वह कर्म, जिसके प्रभाव से जीव तीर्थकर वनकर त्रिलोकपूज्य होता है। इनमे त्रसदशक और स्थावरदशक नाम से प्रसिद्ध बीस प्रकृतियाँ जोड देने से ४२ भेद होते है। वे प्रकृतिया ये है—

१ त्रस नाम कर्म—जिससे त्रस पर्याय प्राप्त हो।

२ वादर—जिससे अपेक्षाकृत स्थूल शरीर वने।

३. पर्याप्ति—जिस कर्म के प्रभाव से पुनर्जन्म के समय नवीन शरीर, इन्द्रिय, मन, श्वासोच्छ्वास आदि के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके शरीर आदि की छ. प्रकार से पूर्णता प्राप्त की जाय।

४. प्रत्येक—जिससे एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो।

५. स्थिर—यह कर्म अगोपागो को अपने-अपने स्थान पर स्थिर बनाये रखता है।

६ शुभ—जिससे शुभ की प्राप्ति हो।

७ सुभग—सौन्दर्य प्राप्त कराने वाला।

८. सुस्वर—जिससे मधुर स्वर मिले।

९. आदेय—जिसके प्रभाव से दूसरो पर हमारी बात का असर हो।

१० यश. कीर्ति—जिससे यश कीर्ति का प्रसार हो।

स्थावर-दशक—१. स्थावर, २ सूक्ष्म, ३ अपर्याप्त, ४ साधारण, ५. अस्थिर, ६. अशुभ, ७ दुर्भग, ८. दु स्वर, ९ अनादेय, १०. अयश अकीर्ति।

नाम से ही स्पष्ट है कि यह दश कर्म पूर्वोक्त दशों से ठीक विपरीत है।

यह सब मिलकर नाम कर्म के बयालीस भेद है। वास्तव मे नाम कर्म का कार्य शरीर की रचना करना, उसकी विभिन्न आकृतियाँ बनाना जीव को नवीन जन्म लेने के स्थान पर पहुंचाना, त्रस या स्थावर रूप देना, शरीर मे किसी भी प्रकार का रग-रूप आदि उत्पन्न करना, सुन्दर-असुन्दर स्वर बनाना, आदि-आदि है। यद्यपि रग-रूप एव स्वर आदि मे बाहर के भी कारण अपेक्षित है, मगर अन्तरग का कारण नाम कर्म ही है।

इस कर्म का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक है, अतएव इसकी प्रकृतियो की सख्या भी अन्य कर्मो से अधिक है।

७. गोत्रकर्म—जैसे कुम्हार छोटे बड़े वर्तन बनाता है, उसी प्रकार जिस कर्म के प्रभाव से जीव प्रतिष्ठित अथवा अप्रतिष्ठित कुल मे जन्म लेता है, वह गोत्रकर्म है। यह दो प्रकार का है—

१ उच्च गोत्र, २ और नीच गोत्र।[1]

---

१. प्रज्ञापना सूत्र, पद २३-१, २९४।

८ अन्तराय कर्म—यह अभीष्ट की प्राप्ति में अड़गा लगा देने वाला कर्म है। यह पाँच प्रकार का है।[1]

१ दानान्तराय	—	जिसके कारण दान देने की इच्छा होने पर भी दान न दिया जा सके।
२ लाभान्तराय	—	लाभ मे बाधा डालने वाला।
३ भोगान्तराय	—	भोग-प्राप्ति मे बाधक।
४ उपभोगान्तराय	—	उपभोग (पुन पुन काम मे आने वाली वस्त्रादि वस्तु) की प्राप्ति मे बाधक।
५. वीर्यान्तराय	—	वीर्य-सामर्थ्य के विकास में बाधक।

इन आठ कर्मों मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म घातिक कहलाते हैं और शेष चार अघातिक हैं।

आठ कर्मों के इस दिग्दर्शन से पाठक समझ सकेंगे कि कर्म का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। जीव की सभी आन्तरिक वृत्तियाँ और साथ ही बाह्य आकृतियाँ कर्म का ही प्रताप हैं। जैन सिद्धान्त मे कर्मो का वर्णन इतना व्यवस्थित है कि उसमे कही क्षति या न्यूनता नजर नही आती।

कर्म-व्यवस्था के अन्तर्गत उनकी विभिन्न दशाओ को भी समझ लेना आवश्यक है। वे मुख्य रूप से दश हैं।[2]

१ बन्ध	—	कर्मों का आत्मा के साथ बद्ध होना और उनमे पहले कही हुई चार बाते—स्वभाव, काल, मर्यादा, प्रभाव और परिमाण उत्पन्न हो जाना।
२. उत्कर्षण	—	बद्ध हुए कर्मों की कालमर्यादा और फल-वृद्धि हो जाना।
३ अपकर्षण	—	काल-मर्यादा और फल मे न्यनता हो जाना।

१. उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३३ तत्त्वार्थ सूत्र, अ० ८-१२।

२. द्रव्य-संग्रह टीका, गा० ३३।

कभी-कभी ऐसा होता है कि प्राणी अशुभ कर्म का वन्ध करके शुभ विचार कार्य मे प्रवृत्त हो जाता है। उसके बाद के इस विचार और व्यवहार का असर पहले के अशुभ कर्मों पर पड़ता है और वह यह कि उनकी लम्बी काल-मर्यादा और विपाक-शक्ति मे कमी हो जाती है। इसे अपकर्षण कहते हैं। कभी-कभी इससे विपरीत स्थिति में जीव कालमर्यादा और विपाक-शक्ति मे वृद्धि भी कर लेता है वही उत्कर्षण कहलाता है।

४. **सत्ता**—कर्म बन्धते ही अपना असर नही प्रकट करने लगते। जैसे मादक वस्तु का सेवन करते ही नशा नही आ जाता, धीरे-धीरे आता है, उसी प्रकार कर्मवन्ध के पश्चात् बीच का नियत समय, जिसे अवाधाकाल कहते हैं, समाप्त होने पर ही कर्म का फल होता है। वन्ध होने के और फलोदय पर ही कर्म का फल होता है। वन्ध होने और फलोदय होने के बीच कर्म आत्मा में विद्यमान रहते है। जैनशास्त्रो मे वह अवस्था 'सत्ता' के नाम से प्रसिद्ध है।

५. **उदय**—कर्म का फलदान उदय कहलाता है। अगर कर्म अपना फल देकर निर्जीर्ण हो तो वह फलोदय, और फल दिये विना ही नष्ट हो जाए तो वह प्रदेशोदय कहलाता है।

६ **उदीरणा**—महीना-बीस दिन मे वृक्ष पर पकने वाले फल को लोक कृत्रिम गर्मी पहुंचाकर एक ही दिन में पका लेते है, इसी प्रकार वन्ध के समय नियत हुई कालमर्यादा मे कमी करके कर्म को जल्दी उदय मे ले आना उदीरणा है।

अपकर्पण के द्वारा स्थिति घट जाती है और नियत समय आने से पहले ही जब आयु पूरी भोग ली जाती है, तो उसे लोक-व्यवहार मे कालमृत्यु और शास्त्रीय परिभाषा में आयुकर्म की उदीरणा कहते हैं।

७. **संक्रमण**—एक कर्म के अनेक अवान्तर भेद हैं। एक कर्म अपने सजातीय दूसरे भेद मे वदल सकता है। यह अदल-वदल मे सक्रमण कहलाता है।

स्मरण रखना चाहिए कि मूल आठ कर्मो से एक कर्म पलट कर दूसरा कर्म नही बन सकता। पर एक ही कर्म की अवान्तर प्रकृति पलट सकती है। हाँ, इसमें दो अपवाद हैं। प्रथम यह कि आयुकर्म के अवान्तर भेदो का सक्रमण नही होता, मनुष्यायु अगर वन्ध चुकी है तो पलट कर वह देवायु, अन्य कोई आयु नही हो सकती। दूसरा अपवाद यह है कि दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय के रूप में नही पलटता, और चारित्रमोहनीय, दर्शनमोहनीय नही वनता।

८. **उपशम**—कर्मों को विद्यमान रहते भी उदय में आने के लिए अक्षम वना देना उपशम है। जैसे अगार को राख से ऐसा दवा देना कि वह अपना काय न कर सके।

९. **निधत्ति**—कर्मों का संक्रमण और उदय न हो सकना निधत्ति है।

१०. **निकाचना**—कर्मों का ऐसे प्रगाढ रूप में वन्धना कि उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण आदि न हो सके (इसमे भी विरल अपवाद हो सकता है)।

कर्मक्षय से लाभ—जो कर्म आत्मा की जिस शक्ति को नष्ट करता, न्यून करता या विकृत करता है, उसके क्षय से वही शक्ति प्रकट होती, पूर्ण होती या शुद्ध होती है। सुगमता के लिए उसका निर्देश कर देना अनुचित न होगा।

१ ज्ञानावरण के हटने से अनन्त ज्ञानशक्ति प्रकट होती है।

२. दर्शनावरण के हटने से अनन्त दर्शनशक्ति जागृत होती है।

३. वेदनीय का क्षय अनन्त सुख प्रकट करता है। !

४. मोहनीय के क्षय से परिपूर्ण सम्यक्त्व और चारित्र का आविर्भाव होता है।

५. आयुकर्म के क्षय से अजर-अमरता की अनन्तकालीन स्थिति प्राप्त होती है।

६. नामकर्म के क्षय से अमूर्त्तत्व गुण प्रकट होता है। जिसे अनन्त मुक्तात्मा एक ही जगह अवगाहन कर सकते हैं।

७. गोत्र कर्म से अगुरुलघुत्व गुण प्राप्त होता है।

८ अन्तराय के क्षय से अनन्त शक्ति व विपुल लाभ प्राप्त होती है।

९ कर्म-वन्ध और कर्म-क्षय की प्रक्रिया का वर्णन तत्वचर्चा में किया जा चुका है।

पुनर्जन्म की प्रक्रिया

आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है। वह उत्पाद और विनाश से रहित होने पर भी परिणामी है। वाह्य और आन्तरिक कारणो से उसमे अनेक पर्याय उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। ऐसा न होता तो पुनर्जन्म भी सम्भव न होता और पुण्य-पाप के फलस्वरूप होने वाले सुख-दुःख का भोग भी सगत न होता।

यो तो परिणाम की धारा अविराम गति से प्रवाहित हो रही है, कोई क्षण नही जिसमे मूल अवस्था का सूक्ष्म परिवर्तन न होता हो, फिर भी सब से

स्थूल परिवर्तन पुनर्जन्म का है। आत्मा अपने वर्तमान शरीर का परित्याग करके नूतन शरीर ग्रहण करती है। यही पुनर्जन्म है।

पुनर्जन्म के सम्वन्ध मे एक विचारक ने लिखा है कि—'मनुष्य इकाई नही है, परन्तु अनेकता का पुञ्ज है, वह सुषुप्त है, वह स्वयं चालित है। वह भीतर से असतुलित है, उसे जागना चाहिए। एक होना चाहिए, अपने आप संश्लिप्ट और मुक्त होना चाहिए। मनुष्य की कल्पना एक वीज से की जाती है, जो कि वीज के नाते मर जायेगा, और पौध के रूप मे पुनर्जीवित होगा। गेहूँ की दो ही सम्भावनाए है, या तो वह पिस कर आटा बन जाए, और रोटी का रूप ले ले, या उसे फिर वो दिया जाए, जिससे अकुरित होकर वह फिर पौधा वन जाय। मनुष्य, सम्पूर्ण और अन्तिम सत्ता नही है, वह ऐसी सत्ता है जो अपने आप को वदल सकती है, जो पुनर्जन्म ले सकती है। यह परिवर्तन घटित करके पुनः-पुन जन्म लेने के लिए, जागरित होने के लिए, यत्न करना सभी धर्मो का ध्येय है।"[1]

जैनधर्म के अनुसार जीव आयुकर्म के उदय से जीवित रहता है। अपने जीवन-काल मे जीव क्षण-क्षण मे पूर्ववद्ध आयुकर्म के दलिको (पुद्गलो) को भोग रहा है।[2] युक्त दलिक पृथक् होते जाते है और जब आयुकर्म के समस्त दलिक भोग लिए जाते है तव जीव को वर्तमान शरीर त्याग कर नया शरीर धारण करना पडता है।

यह एक अटल प्राकृतिक नियम है कि मृत्यु से पूर्व ही जीव अगले जन्म के लिए आयु वाध लेता है। पहले की आयु समाप्त होते ही वह उस शरीर का त्याग कर देता है और उसी समय नवीन आयुकर्म का उदय हो जाता है। इसी स्थिति में जीव अगली योनि के लिए आता है।

आयुकर्म के दलिको का भोग दो प्रकार से होता है, जिसे हम प्राकृतिक और प्रायोगिक कह सकते है। स्वाभाविक क्रम से जो दलिक, जव उदय होने लगता है, उसी उसका समय भोग उदय मे आता है, यही प्रथम प्रकार है। मगर कभी-कभी आयुदलिक नियत समय से पहले ही उदय मे आ जाते है इसे अकाल-मृत्यु या आकस्मिकमरण भी कहते हैं, इसके सात कारण है—

---

१. "बौद्ध-धर्म के २५०० वर्ष" में सर्वपल्लि राधाकृष्णन्।

२ आवीचिकमरण, भगवती, शतक १३, उ०७, पा० १९।

अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे, वेयणाअपराघाते।
फासे आणापाणू, सत्तविहं झिज्जए आऊ॥

ठाणाग सूत्र, ठाणा ७।

अर्थात्—१ अत्यन्त तीव्र हर्ष-शोक आदि, २ विप-शस्त्र आदि का प्रयोग, ३ आहार की अत्यधिकता या सर्वथा अप्राप्ति, ४. व्याधिजनित वेदना, ५ आघात, ६ सर्प आदि का दशन और ७ श्वासनिरोध, इन सात कारणो से आयु का क्षय होता है, तात्पर्य यह है कि जो आयु धीरे-धीरे भोगी जाने वाली थी, वह इन मे से किसी भी एक कारण के उपस्थित होने पर शीघ्र भोग ली जाती है।

आयु भोग लेने के पश्चात् आत्मा के प्रदेश कभी-कभी बन्दूक से गोली की भाति शरीर से बाहर एकदम निकल जाते है, और कभी धीरे-धीरे निकलते है। एकदम निकल जाना "समोहिया-मरण" कहलाता हे, और धीरे-धीरे निकलना "असमोहिया-मरण" कहलाता है।

मरण के पश्चात् गति नामकर्म के उदय के अनुसार जीव को अगली गति मे जाना पडता है। उसे नवीन जन्म के योग्य स्थान मे पहुचा देना आनुपूर्वी नाम कर्म का काम है। आनुपूर्वी नामकर्म उसे नियत उत्पत्ति-क्षेत्र मे पहुचा देता है।

पुरातन शरीर त्याग कर नूतन शरीर ग्रहण करने के लिए जीव की जो गति होती है, वह विग्रहगति कहलाती है। विग्रह अर्थात् इस शरीर से नये शरीर मे जाने के लिये आत्मा की गति को विग्रहगति कहते है।

अन्यत्र कहा जा चुका है कि जैसे पृथ्वीतल पर बने हुए मार्गों से मनुष्यो का आवागमन होता है, उसी प्रकार गगनतल मे बनी हुई श्रेणियो के अनुसार ही जीव की गति होती है। पुनर्जन्म के लिए जाने वाले जीव को यदि सीधी श्रेणी मिल जाए तो, उसे इस महायात्रा मे सिर्फ एक समय लगता है। सीधी श्रेणी न हो, और एक बार मुड़ना पडे, तो दो समय और दो मोड खाने पडे, तो तीन समय लगते है। साधारणतया तीन समय मे ही जीव अपने उत्पत्ति क्षेत्र मे पहुचता है, विरला अवसर ऐसा होता है कि जब चार समय लग जाते है।

विग्रहगति के समय यद्यपि स्थूल शरीर नही रहता, तथापि कार्मण और तेजस नामक दो सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहते है। कार्मण शरीर के द्वारा ही उस समय जीव का व्यापार होता है, और वह उत्पत्ति स्थान पर पहुचता है।

उत्पत्ति स्थान पर पहुचते ही जीव को अपने योग्य नई सृष्टि रचनी पड़ती है।

जैनागमो मे छः पर्याप्तियाँ मानी गई है। पर्याप्ति का अर्थ है 'पूर्णता'। वे ये है--

१. आहारपर्याप्ति, २ शरीर-पर्याप्ति, ३. इन्द्रियपर्याप्ति। ४. श्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति, ५ भाषा-पर्याप्ति और ६ मन-पर्याप्ति।

१. आहार पर्याप्ति	–	अपनी गति के अनुसार शरीर-निर्माण के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करने की शक्ति की पूर्णता।
२. शरीर-पर्याप्ति	–	शरीर-निर्माण की शक्ति की पूर्णता।
३. इन्द्रियपर्याप्ति	–	इन्द्रियो के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करने और उन्हे इन्द्रियो के रूप मे परिणत करने की शक्ति की परिपूर्णता।
४. श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति	–	श्वासोच्छ्वास के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने, उन्हे श्वासोच्छ्वास रूप में परिणत करने और फिर छोड़ने की शक्ति की पूर्णता।
५ भाषा-पर्याप्ति	–	भाषावर्गणा के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके, भाषा-रूप मे परिणत करके, बोलने की शक्ति की पूर्णता।
६. मन-पर्याप्ति	–	मनोवर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करके, उन्हें मन के रूप मे परिणत करके, और उनकी सहायता से मनन करने की शक्ति की पूर्णता।

उत्पत्ति-स्थान मे जीव सर्वप्रथम इन शक्तियो को प्राप्त करता है। इन मे से एकेन्द्रिय जीवो को चार, द्वीन्द्रिय से लेकर अमनस्क पचेन्द्रिय तक के जीवो को पाच और समनस्क पचेन्द्रिय जीवो को छहो शक्तियाँ प्राप्त होती है।

इन शक्तियो के द्वारा जीव अपने शरीर, इन्द्रिय आदि का निर्माण करता है। निर्माण करने की यह शक्तियाँ उसे लगभग पौन घटे मे प्राप्त हो जाती है,

फिर धीरे-धीरे निर्माण कार्य चलता रहता है। पर देवो और नारको के जन्म की प्रक्रिया कुछ भिन्न प्रकार की है जो अन्य ग्रन्थो से जानी जा सकती है।

जैनशास्त्रो के अनुसार जन्म तीन प्रकार के हैं—

१ गर्भ २ सम्मूर्छिम ३. उपपात।

माता-पिता के रज-वीर्य के सम्मिश्रण के फलस्वरूप होने वाला जन्म गर्भ-जन्म है। इधर-उधर के पुद्गलो के सम्मिश्रण के फलस्वरूप होने वाला जन्म सम्मूर्छिम-जन्म कहलाता है। देव और नारक जीवो का जन्म उपपात जन्म कहलाता है।

जरायुज, अर्थात् पतली-सी झिल्ली मे लिपटे हुए जन्म लेने वाले मनुष्य आदि। अण्डे से जन्म लेने वाले पक्षी आदि, और पोतज अर्थात् जन्म लेने के पश्चात् जल्दी ही दौड-भाग कर सकने वाले हरिण आदि गर्भज होते है। नाना प्रकार के कीड़े-मकौडे आदि जीवो का जो गर्भज नही है, सम्मूर्छिमज होते है। देव और नारक औपपातिक कहलाते हैं। सृष्टि के समस्त प्राणी इन तीनो मे से किसी एक प्रकार से जन्म धारण करते हैं।

हाँ, जो महाभाग नवीन आयु का बन्ध नही करते, और कार्मण शरीर का भी अन्त कर देते है, वे अजन्मा हो जाते है। वे जन्म-मरण से मुक्त सिद्ध परमात्मा कहलाते है।



धम्मज्जियं च ववहारे, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभि गच्छई॥

—उत्तराध्ययन, अ० १, गा० ४२।

धर्महीन नीति जगत् के लिए अभिशाप है, और नीतिहीन धर्म कोरी वैयक्तिक साधना है, अत महावीर कहते हैं कि—

हे साधक, जो व्यवहार धर्म से उत्पन्न है और ज्ञानी पुरुषो ने जिनका सदा आचरण किया उन व्यवहारो का आचरण करने वाला पुरुष कभी निन्दा को प्राप्त नही होता।

चारित्र और नीतिशास्त्र

चारित्र और नीतिशास्त्र

द्विविध धर्म

चारित्र का महत्त्व—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिवेणी धारा सीधी मुक्ति की ओर बही जा रही है[1] किन्तु मानव अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार उसकी गहराई मे प्रवेश करता है। उद्देश्य सिद्धि के सही पथ को पहचान लेना, ज्ञान की बात रही, और उस पर विश्वास प्रकट करना श्रद्धा की बात, किन्तु चलना तो अपनी-अपनी शक्ति पर ही निर्भर है।

कोई मन्दगति से चल पाता है, किन्तु कोई तीव्रगति से चलने मे समर्थ होता है। तीव्र चलने वाले को अपनी तमाम मनोवृत्तियो को केन्द्रित, इन्द्रियों को नियन्त्रित, तथा उपाधि को स्वल्प-स्वल्पतर करके भागना पडता है। यदि भागना सम्भव नही हो तो मन्द-मन्द चलना सुविधानुसार भी हो सकता है। भगवान् महावीर ने यही तथ्य यो व्यक्त किया है—

धम्मे दुविहे पण्णत्ते, तजहा—अगारधम्मे चेव, अणगार—धम्मे चेव।

ठाणागसुत्त, स्था० २।

---

१. तत्वार्थ सूत्र, अ० १, सू० १।

धर्म अर्थात् मुक्तिमार्ग पर चलने के प्रकार दो है—

१. अगार धर्म और २. अनगारधर्म ।

गृहस्थी मे रहते हुए और पारिवारिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय उत्तरदायित्वो को निभाते हुए मुक्तिमार्ग की साधना करना अगारधर्म है । जिसे श्रावकधर्म या गृहस्थधर्म भी कहते है । जो विशिष्ट साधक गृह-त्याग कर साधु जीवन अगीकार करते हैं, पूर्ण अहिंसा और सत्य की आराधना के लिए अस्तेय, ब्रह्मचर्य को, अपरिग्रह को अगीकार करते हैं उनका आचार अनगारधर्म कहलाता है।

यद्यपि श्रावक और साधु, मुक्ति की साधना के लिए जिन व्रतो का पालन करते हैं, वे मूलत एक ही हैं, परन्तु दोनो की परिस्थितिया भिन्न होती हैं । अत. उनके व्रतपालन की मर्यादा मे भी भिन्नता होती है । समस्त लौकिक उत्तरदायित्वों का परित्याग कर, सयम और त्याग मे ही रमण करने वाला साधु जिन अहिंसा आदि व्रतो को पूर्ण रूप से पालता है, श्रावक उन्हे आंशिक रूप मे पाल सकता है । इस प्रकार योग्यता-भेद के कारण ही अगारधर्म और अनगारधर्म का भेद किया गया है । तात्पर्य यह है कि अहिंसा आदि व्रतो को पूर्ण रूप से पालने वाला साधक, साधु या महाव्रती कहलाता है, और आशिक रूप मे पालन करने वाला साधक श्रावक कहलाता है ।

व्रतविचार

व्रत की परिभाषा—जीवन को सुघड वनाने वाली, आलोक की ओर ले जाने वाली मर्यादाए नियम कहलाती हैं। अथवा जो मर्यादाए सार्वभौम हैं, जो प्राणी मात्र के लिए हितावह हैं, और जिनसे स्वपर का हित-साधन होता है, उन्हे नियम या व्रत कहा जा सकता है। अपने जीवन मे अथवा अनुभव मे आने वाले दोषो को त्यागने का जब दृढ सकल्प उत्पन्न होता है, तभी व्रत की उत्पत्ति होती है ।[1]

व्रत की आवश्यकता—सरिता के सतत गतिशील प्रवाह को नियन्त्रित रखने के लिए दो किनारे आवश्यक होते है । इसी प्रकार जीवन को नियन्त्रित, मर्यादित और प्रगतिशील वनाये रखने के लिए व्रतो की आवश्यकता है । जैसे

---

१. निश्शल्यो व्रती, तत्वार्थ सूत्र, अ० ७, सूत्र, १८, आवश्यक चतु० आ० सूत्र ७ ।

किनारो के अभाव मे प्रवाह छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार व्रतविहीन मनुष्य की जीवन-शक्ति भी छिन्न-भिन्न हो जाती है। अतएव जीवन-शक्ति को केन्द्रित करने और योग्य दिशा मे ही उसका उपयोग करने के लिए व्रतो की अत्यन्त आवश्यकता है।

आकाश मे ऊँचा उडने वाला पतग सोचता है—"कि मुझे डोर के वन्धन की क्या आवश्यकता है? यह वन्धन न हो तो मै स्वच्छन्द भाव से गगन-विहार कर सकता हू"; किन्तु हम जानते है कि डोर टूट जाने पर पतग की क्या हालत होती है। डोर टूटते ही पतग के उन्मुक्त व्योमविहार का स्वप्न भग हो जाता है, और उसे धूल मे मिलना पडता है। इसी प्रकार जीवन-पतग को उन्नत रखने के लिए व्रतो की डोर के साथ वन्धे रहने की आवश्यकता है।

मूलभूत दोष—प्रत्येक व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न प्रकार के दोप पाये जाते है। उनकी गणना करना सभव नही। तथापि उन सव दोपो के मूल की यदि खोज की जाए तो विदित होगा कि मूलभूत दोष पॉच है। जो शेष समस्त दोषो के जनक है और जो व्यक्ति के जीवन मे पनप कर उसे नाना प्रकार की वुराइयो का पात्र वना देते है। वे यह है[1]—

१. अहिंसा, २. असत्य, ३ अदत्तादान, ४. मैथुन और, ५ परिग्रह।

इन पाच दोपो के कारण ही मानवता सत्रस्त होती और कुचली जाती है। इन्ही के प्रभाव से मानव दानव, राक्षस, चोर, लुटेरा, अनाचारी, लोभी, स्वार्थी, प्रपची, मिथ्याभावी और न जाने किन-किन वुराइयो का घर वन जाता है। यही दोप है जो आत्मा के उत्थान के मार्ग मे चट्टान की भाति आडे आते है, और जब मनुष्य इन पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर लेता है तो उसे महात्मा एव परमात्मा वनने मे क्षण भर का विलम्व नही लगता।

यह दोप मानव तथा अन्यान्य जीवधारियो मे भी जन्म-जन्मान्तर के कुसस्कारो के कारण प्रश्रय पा रहे है। वस्तुत यही आत्मा के वास्तविक शत्रु है। राग और द्वेष इनके जन्मदाता है।

पूर्वोक्त पॉच दोषो मे भी हिंसा सवसे वडा दोष है, सव से वडा पाप है और वही अन्य समस्त पापो का जनक है।

साधारणतया प्राणघात को हिंसा कहते है, परन्तु हिंसा और अहिंसा

---

१ तत्वार्थ सूत्र, अ० ७, सू० १,।

का स्वरूप गम्भीर और सूक्ष्म चिन्तन की अपेक्षा रखता है। हिंसा, प्रमाद मे' और अहिंसा विवेक मे छिपी हुई है। मनोभावना ही हिंसा-अहिंसा की निर्णायक कसौटी है। किसी के प्राणो का वध हो जाना ही हिंसा नही है, किन्तु प्रमादवश अर्थात् राग-द्वेष के वशीभूत होकर प्राणो का जो वध किया जाता है वही हिंसा है।[2]

प्रश्न हो सकता है कि—"किसी प्राणी की रक्षा करते हुएअगर उसके प्राणो की हानि हो जाए, अथवा अपनी ओर से सावधान रहने पर भी अकस्मात् कोई जीव किसी के निमित्त से मर जाए तो क्या उसे हिंसा का दोष लगेगा ?"

इस प्रश्न का उत्तर है—"नही। रक्षा करते हुए अगर प्राणहानि हुई है, और तुम्हारा विवेक पूर्ण रूप मे जागृत रहा है, तो तुम हिंसा के फल के भागी नही होओगे। अलवत्ता अगर तुमने असावधानी की है, प्रमाद को आश्रय दिया है, या तुम्हारे चित्त मे कषाय उत्पन्न हुआ है तो अवश्य तुम्हे हिंसा का भागी होना पड़ेगा।"

प्राणवध स्थूल क्रिया है और प्रमाद योग सूक्ष्म क्रिया है। प्राणवध द्रव्य हिंसा कहलाता है और प्रमाद योग भाव हिंसा। भाव हिंसा एकान्त हिंसा है, जब कि द्रव्य हिंसा एकान्त हिंसा नही। भाव हिंसा की मौजूदगी मे होने वाली द्रव्य हिंसा ही हिंसा है।[3]

जैसे चिकित्सक करुणाभाव से सावधानी के साथ रोगी का आपरेशन करता है, किन्तु रोगी किसी कारण मर जाता है, तो वह द्रव्यहिंसा चिकित्सक के हिंसा जनित पापबन्ध का कारण नही होगी। इसके विपरीत लोभ-लालच अथवा किसी अन्य कारण से चिकित्सक रोगी को विषमिश्रित औषध देता है और आयु लम्बी होने के कारण रोगी मृत्यु से बच जाता है तब भी चिकित्सक हिंसा के पाप का भागी हो जाता है।

इस प्रकार जैनधर्म हिंसा को क्रिया पर नही वरन् मुख्यतः भावना पर आश्रित मानता है। भावना ही हिंसा और अहिंसा की अचूक कसोटी है।

असत्य—असत् भाषण करना दूसरा दोष है। असत् का अर्थ है 'अयथार्थ'

---

१ तत्वार्थ सूत्र, अ० ७, सूत्र ३।

२ प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा, तत्वार्थ सूत्र, अ० ७, सू० १३।

३. भगवती सूत्र, श० १, उ० १, सू० ४८।

और अप्रशस्त। जो वस्तु या घटना जैसी है उसे वैसी न कहकर अन्यथा कहना अयथार्थ असत्य है।[1] जिसे साधारण जन भी असत्य मानते है, परन्तु जो वचन दूसरो को पीडा पहुचाने के लिए बोला जाता है, जिसके पीछे दुर्भावना काम कर रही होती है, वह भी असत्य होता है अत उसे अप्रशस्त असत्य कहते है। किसी निर्धन को कगाल कहना, चक्षुहीन को चिढाने या चोट पहुचाने के लिए अन्धा कहना, किसी दुर्बल को दुखी कहने के लिए मरियल आदि कहना, अथवा हिंसाजनक या हिंसोत्तेजक भाषा का प्रयोग करना, यह सब असत्य मे परिगणित है, फिर भले ही वह तथ्य या यथार्थ ही क्यो न हो।

अदत्तादान—स्वामी की इच्छा या आज्ञा के बिना किसी वस्तु को ग्रहण करना अपने अधिकार मे करना अदत्तादान है।[2] किसी की वस्तु मार्ग मे गिर पडी है या कोई अपनी वस्तु कही रखकर भूल गया है, उसे हड़प जाना या दबा लेना भी अदत्तादान मे ही सम्मिलित है।

जब मनुष्य लालच-वृत्ति को स्वच्छन्द छोड देता है, तब अनधिकृत वस्तु पर भी अधिकार करने का प्रयत्न करता है। नीति-अनीति के विवेक को तिलाजलि दे देता है और जैसे-तैसे भी अपनी लोलुपता की पूर्ति करता है। इसी भावना से अदत्तादान-चोरी के पाप का प्रादुर्भाव होता है।

मैथुन—स्त्री और पुरुष के कामोद्वेगजनित पारस्परिक सम्बन्ध की लालसा एव क्रिया मैथुन कहलाती है।[3] मैथुन को अब्रह्म कहा है और उसे अब्रह्म कह कर यह सूचित किया गया है कि काम-दोष आत्मा के सद्गुणो का नाश करने वाला है। यो तो प्रत्येक पाप आत्माको कलुषित करने वाला ही है, किन्तु मैथुन के पाप मे एक बडी बात यह है कि कई बार उसकी परम्परा दीर्घ काल के लिए चल पडती है। इस पाप के चक्कर मे पड कर व्यक्ति अन्यान्य पापो का प्राय शिकार बनता है। यह पाप आत्मा के सदगुणो का घात करता है। शरीर को नि सत्व बनाता है। समाज की नैतिक मर्यादाओ का उल्लघन करता है और अभ्युदय मे विकट बाधाए उपस्थित करता है। अतएव यह भयानक पाप है।

परिग्रह—किसी भी परपदार्थ को ममत्व भाव से ग्रहण करना, परिग्रह

---

१ प्रश्न व्याकरणांग, आश्रव-द्वार २।
२ प्रश्न व्याकरणाग, आश्रव-द्वार ३।
३ प्रश्न व्याकरणाग, आश्रव-द्वार ४।

कहलाता है। ममत्व, मूर्छा या लोलुपता ही वास्तव मे परिग्रह है।[1] उसी से संसार के अधिकाश दुख उत्पन्न होते है। भौतिक पदार्थो पर आसक्ति रखने से विवेक नष्ट हो जाता है। आत्मा अपने स्वरूप से विमुख होकर और राग-द्वेष के वशीभूत होकर अनेक दोषो का सेवन करता हुआ लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है।

यह पाच महान् दोष हैं, जिनसे ससार के समस्त दोषो की उत्पत्ति होती है। इतिहास साक्षी है कि इन्ही दोषो के कारण मनुष्य अपना और ससार का अहित करता आया है। मगर दोषो का शमन हो जाए तो शान्ति और स्थायी एव सच्चे सुख की प्राप्ति मे विलम्ब न लगे। आत्मा को इन दोषो से मुक्त करना ही जैनधर्म की साधना का मुख्य लक्ष्य है। जब यह साधना अपनी पूर्णता पर पहुच जाती है, तब आत्मा, परमात्मा पद का अधिकारी बन जाता है।

पात्रो की योग्यता एव क्षमता का विचार करके जैनधर्म मे यह साधना दो भागो में बांट दी गई है, जिसे हम पहले अगारधर्म (गृहस्थ-धर्म) और दूसरा अनगार (साधु-धर्म) के नाम से कह चुके हैं।[2]

गृहस्थधर्म की पूर्व भूमिका

संघ का विभाजन—भगवान् महावीर ने जब धर्मशासन की स्थापना की तो स्वाभाविक ही था कि उसे स्थायी और व्यापक रूप देने के लिए वे सघ की भी स्थापना करते। क्योकि संघ के बिना धर्म ठहर नही सकता।

जैन सघ चार श्रेणियों में विभक्त है।

१. साधु, २. साध्वी, ३. श्रावक, ४. श्राविका।

इनमें साधु और साध्वी का आचार लगभग एक-सा और श्रावक-श्राविका का आचार एक-सा है।

जैन सघ मे श्रावक और श्राविका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रावक का आचार मुनि धर्म के लिए नीव के समान है। उसी के ऊपर मुनि के आचार का भव्य प्रासाद निर्मित हुआ है।

धर्म संघ की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण बात थी और उसमे भी गृहस्थो को समुचित स्थान मिलना, श्रमण भगवान् की विशालता और उदारता का

---

१. दशवैकालिक, अ० ६, गाथा २१।

२. ठाणांग सूत्र, स्था० २, उ० १।

परिचायक है। कुछ लोग समझते है कि जैनधर्म निवृत्तिमय धर्म, और त्यागियो-वैरागियो के ही काम की ही चीज है, किन्तु उनका यह भ्रम जैनो की संघ व्यवस्था का विचार करने से ही हट सकता है।

श्रावक पद का अधिकार—जैनधर्म मे जैसे मुनियो के लिए आवश्यक आचार प्रणालिका निर्दिष्ट की गई है, और उस आचार का पालन करने वाला साधक ही मुनि कहलाता है, उसी प्रकार श्रावक होने के लिए भी कुछ आवश्यक शर्ते है। प्रत्येक गृहस्थ श्रावक नही कहला सकता, वल्कि विशिष्ट व्रतो को अगीकार करने वाला गृहस्थ ही श्रावक कहलाने का अधिकारी है।

जैन परम्परा के अनुसार श्रावक बनने की योग्यता प्राप्त करने के लिए सात दुर्व्यसनो का त्याग करना आवश्यक है—वे दुर्व्यसन ये हैं—

१ जुआ खेलना, २. मासाहार, ३ मदिरापान, ४ वेश्यागमन, ५ शिकार, ६ चोरी और ७. परस्त्रीगमन।

यह सातो ही कुव्यसन जीवन को अध पतन को ओर ले जाते है। इनमे से किसी भी एक व्यसन मे फँसा हुआ अभागा मनुष्य, प्रायः सभी व्यसनो का शिकार बन जाता है।

इन सात कुव्यसनो मे से नियमपूर्वक किसी भी व्यसन का सेवन न करने वाला ही श्रावक बनने का पात्र होता है।

श्रावक बनने के लिए—इन सात दुर्व्यसनो के त्याग के अतिरिक्त गृहस्थ में अन्य गुण भी होने चाहिएं। जैन परिभाषा मे उन्हे मार्गानुसारी के गुण कहते है। क्योकि जिन मार्ग का अनुसरण करने के लिए इन गुणो का होना आवश्यक है। उनमे कुछ ये है—

नीतिपूर्वक धनोपार्जन करे, शिष्टाचार का प्रशसक हो, गुणवान् पुरुषो का आदर करे, मधुरभाषी हो, लज्जाशील हो, शीलवान् हो, माता-पिता का भक्त एवं सेवक हो, धर्मविरुद्ध, देशविरुद्ध, एवं कुलविरुद्ध, कार्य न करने वाला, आय से अधिक व्यय न करनेवाला, प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनने वाला, नियत समय पर परिमित सात्विक भोजन करने वाला, परस्पर विरोध–रहित धर्म अर्थ एव काम रूप त्रिवर्ग का सेवन करने वाला, अतिथि, दीन-हीन जनो एव साधु-सन्तो का सत्कार करने वाला। गुणो का पक्षपाती, अपने आश्रित जनो का पालन-पोषण करनेवाला, आगा-पीछा सोचने वाला, सौम्य, परोपकार-परायण, काम-क्रोध आदि

आन्तरिक शत्रुओ को नष्ट करने मे उद्यत, और इन्द्रियो पर काबू रखने वाला हो। इत्यादि गुणो से युक्त गृहस्थ ही श्रावक धर्म का अधिकारी होता है।

जैनशास्त्रो मे प्रकारान्तर से श्रावक की २१ विशेषताओ (गुणो) का भी उल्लेख है। यथा—

१ श्रावक का किसी को कष्ट देने का स्वभाव नही होना चाहिए।

२ तेजस्वी और सशक्त स्वभाव वाला हो, अन्तर का सौम्यभाव उसके चेहरे पर प्रतिविम्बित हो।

३ शान्त, दान्त, क्षमाशील, मिलनसार, विश्वास-पात्र और शीतल चित्त हो।

४. अपने व्यवहार से लोकप्रिय हो।

५. क्रूरता से रहित हो।

६ लोकापवाद से डरे, इह-परलोक के विरुद्ध कार्य न करे।

७ शठ, धूर्त एवं अविवेकी न हो।

८ दक्ष हो—व्यवहार कुशल हो और एक नजर मे ही आदमी को परख ले।

९ लज्जाशील हो।

१० दयावान हो।

११ मध्यस्थभावी हो—भली-वुरी बात सुनकर, या वस्तु को देखकर, राग-द्वेप न करे, आसक्तिशील न हो।

१२ सुदृष्टिमान्—अन्त.करण मे मलीनता न हो, आंखो से अमृत झरे, और सम्यग्दृष्टि हो।

१३ गुणानुरागी हो।

१४ न्याय युक्त पक्ष ग्रहण करे, अन्याय का साथ न दे।

१५ दीर्घदृष्टि हो—भविष्य का विचार करके व्यवहार करे।

१६ विशेषज्ञ हो—अर्थात् सत्-असत्, हित, अहित एव गुण अवगुण की परीक्षा करने मे कुशल हो।

१७ वृद्धानुगामी हो, अर्थात् अनुभवी व्यक्तियो के अनुभव का लाभ लेता हुआ प्रवृत्ति करे।

१८. विनयवान् हो।

१९ रग-रग मे कृतज्ञता भरी हो।

२० "परोपकाराय सता विभूतय" अर्थात् सत्पुरुषो का सर्वस्व परहित के लिए ही होता है, ऐसी उनकी जीवन नीति हो ।

२१ लब्धलक्ष्य हो, अर्थात् अपने जीवन के प्रशस्त लक्ष्य को प्राप्त करने वाला हो ।

जिस गृहस्थ के जीवन मे उल्लिखित विशेषताए आ जाती है, उसका जीवन आदर्श गृहस्थ-जीवन हो जाता है । तभी वह श्रावक-धर्म को अगीकार करने और उसका समचित रूप से पालन करने मे समर्थ होता है ।

गृहस्थधर्म

जैन शास्त्र का विधान है--"चारित्त धम्मो ।" अर्थात "चारित्र ही धर्म है ।" चारित्र क्या है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है--

"असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं"

अर्थात् "अशुभ कर्मों से निवृत्त होना और शुभ कर्मो मे प्रवृत्त होना, चारित्र कहलाता है । वस्तुत. सम्यक्-चारित्र या सदाचार ही मनुष्य की विशेषता है । सदाचारहीन जीवन गन्धहीन पुष्प के समान है ।

चारित्र धर्म के नियम गृहस्थ वर्ग और त्यागी के लिए पृथक्-पृथक् वतलाये गए हैं । गृहस्थ-वर्ग के लिए वतलाए गए व्रतो का अर्थात् श्रावक धर्म का, यहा सक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है ।

अणुव्रत

अणुव्रत का अर्थ है छोटा व्रत--

१ **अहिंसाणुव्रत**--पहला व्रत स्थूल प्राणातिपात विरमण अर्थात् जीवो की हिंसा से विरत होना है । संसार म दो प्रकार के जीव है, स्थावर और त्रस । जो जीव अपनी इच्छा अनुसार स्थान वदलने मे असमर्थ है, वे स्थावर कहलाते है । पृथ्वीकाय, अप्काय (पानी), अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, यह पाच प्रकार के स्थावर जीव है । इन जीवो की सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय ही होती है । अतएव इन्हे एकेन्द्रिय जीव भी कहते हैं ।

सुख-दु ख के प्रसग पर जो जीव अपनी इच्छा के अनुसार एक जगह से दूसरी जगह आते है, जो चलते-फिरते और वोलते हैं, वे त्रस जीव है । इन त्रस जीवो मे दो इन्द्रियो वाले, कोई तीन इन्द्रियो वाले, कोई चार इन्द्रियो वाले, कोई

पाच इन्द्रियो वाले होते हैं। संसार के समस्त जीव त्रस और स्थावर विभागों में सम्मिलित हो जाते हैं।

मुनि दोनो प्रकार के जीवो की हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग करते हैं। परन्तु गृहस्थ ऐसा नही कर सकते, अतएव उनके लिए स्थूल हिंसा के त्याग का विधान किया गया है। निरपराध त्रस जीव की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा को ही गृहस्थ त्यागता है।

जैनशास्त्रो मे हिंसा चार प्रकार की वतलाई गई है।[1]

१ आरम्भी हिंसा, २ उद्योगी हिंसा, ३ विरोधी हिंसा और ४ संकल्पी हिंसा।

१. जीवन निर्वाह के लिए, आवश्यक भोजन-पान के लिए, और परिवार के पालन-पोषण के लिए अनिवार्य रूप से होने वाली हिंसा आरम्भी हिंसा है।

२. गृहस्थ अपनी आजीविका चलाने के लिए, कृषि, गोपालन, व्यापार आदि उद्योग करता है और उन उद्योगो में हिंसा की भावना न होने पर भी जो हिंसा होती है, वह उद्यमी या उद्योगी हिंसा कहलाती है।

३. अपने प्राणो की रक्षा के लिए, कुटुम्ब-परिवार की रक्षा के लिए अथवा आक्रमणकारी शत्रुओ से देश की रक्षा करने के लिए की जाने वाली हिंसा विरोधी हिंसा है।

४. किसी निरपराध प्राणी की, जान-बूझ कर, मारने की भावना से हिंसा करना संकल्पी हिंसा है।

चार प्रकार की इस हिंसा मे गृहस्थ पहले व्रत मे संकल्पी हिंसा का त्याग करता है और शेष तीन प्रकार की हिंसा मे यथाशक्ति त्याग करके अहिंसा व्रत का पालन करता है।

अहिंसा व्रत का शुद्ध रूप से पालन करने के लिए पाच दोषो से बचते रहना चाहिए।[2]

१. किसी जीव को मारना, पीटना, त्रास देना,

२. किसी का अगभग करना, अपग वनाना, विरूप करना।

३ किसी को वन्धन मे डालना, यथा-तोते के पीजरे मे वन्द करना, कुत्तो

---

१. प्रश्न व्याकरण आश्रव द्वार, २. उपासक दशांग अ० १।

को रस्सी से बाधे रखना, साप को पिटारे मे बन्द कर देना, एसा करने से उन प्राणियो की स्वाधीनता नष्ट हो जाती है और उन्हे व्यथा पहुचती है।

४ घोडे, बैल, खच्चर, गधे आदि जानवरो पर सामर्थ्य से अधिक बोझ लादना, नौकरो से अधिक काम लेना।

५ अपने आश्रित प्राणियो को समय पर भोजन-पानी न देना तथा रात्रि भोजन आदि समस्त दोषो का त्याग अहिंसाणुव्रत की भावना मे आवश्यक है।

२ सत्याणुव्रत—स्थूल असत्य बोलने का सर्वथा त्याग करना और सूक्ष्म असत्य के प्रति सावधान रहना द्वितीय व्रत है।

यद्यपि स्थूल और सूक्ष्म असत्य की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है, तथापि जिस असत्य को दुनिया असत्य मानती है, जिस असत्य भाषण से मनुष्य झूठा कहलाता है, जो लोकनिन्दनीय और राजदण्डनीय है, वह असत्य स्थूल असत्य कहलाता है। श्रावक ऐसे स्थूल असत्य-भाषण का त्याग करता है।

झूठी साक्षी देना, झूठा दस्तावेज या लेख लिखना, किसी की गुप्त बात प्रकट करना, चुगली करना, सच्ची-झूठी कह कर किसी को गलत रास्ते पर ले जाना, आत्मप्रशसा और परनिन्दा करना आदि स्थूल मृषावाद मे सम्मिलित है। इस व्रत का भलीभाति पालन करने के लिए इन पाचो बातो से बचना चाहिए।[1] जैसे कि —

१. दूसरे पर मिथ्या दोषारोपण करना।
२. किसी की गुप्त बात प्रकट करना।
३ पत्नी आदि के साथ विश्वास घात करना।
४ दूसरे को गलत सलाह देना।
५ जालसाजी करना, झूठे दस्तावेज आदि लिखना।

३.अचौर्याणुव्रत—मन, वाणी और शरीर से किसी की सम्पत्ति को बिना आज्ञा न लेना अचौर्याणुव्रत कहते है। चोरी भी दो प्रकार की है स्थल चोरी, और सूक्ष्म चोरी। जिस चोरी के कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालय से दण्डित होता है, और जो चोरी लोक में चोरी के नाम से विख्यात है, वह स्थूल चोरी है। रास्ते मे चलते-चलते तिनका या ककर उठा लेना या इसी प्रकार की कोई दूसरी वस्तु उसके स्वामी से आज्ञा प्राप्त किए बिना ग्रहण कर लेना सूक्ष्म

---

१. उपासक दशांग, अ० १।

चोरी है। गृहस्थ के लिए सम्पूर्ण चोरी का त्याग करना कठिन है, तथापि स्थूल चोरी का त्याग करना ही चाहिए। सेध लगाना, जेव काटना, डाका डालना, सूद के बहाने किसी को लूट लेना, आदि स्थूल चोरी के अन्तर्गत है।

अचौर्याणुव्रती को इन पाच वातो से वचना चहिए[1]—

१. चोरी का माल खरीदना।

२. चोर को चोरी करने मे सहायता देना।

३. राज्य-राष्ट्र के विरुद्ध कार्य करना, जैसे उचित 'कर' न देना आदि।

४. न्यूनाधिक नाप-तोल करना।

५. मिलावट करके अशुद्ध वस्तु वेचना।

४. **ब्रह्मचर्याणुव्रत**—कामभोग एक प्रकार का मानसिक रोग है। उसका प्रतिकार भोग से नही हो सकता। यह समझ कर मानसिक वल शारीरिक स्वस्थता और आत्मिक प्रकाश की रक्षा के लिए संभोग से सर्वथा बचना पूर्ण ब्रह्मर्यव्रत है। जो पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना नही कर सकता, उसे कम-से-कम पर स्त्रीगमन का त्याग तो करना ही चाहिए। इस प्रकार परस्त्रीत्याग और स्वस्त्री सन्तोष करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है।

सभोग की प्रतिक्रिया मे असंख्य सूक्ष्म जीवों का वध होता है। इससे राग, द्वेष और मोह की वृद्धि होती है। वह समस्त पापो का मूल है। अतएव जो गृहस्थ उसे अपनी पत्नी तक सीमित कर लेता है और पत्नी मे भी अत्यासक्ति नही रखता, वह अन्त मे काम वासना पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर सकता है।

ब्रह्मचर्याणुव्रती को निम्नलिखित पाच वातो से वचना चाहिए[2]—

१ किसी रखेल आदि के साथ कुसम्वन्ध स्थापित करना।

२. कुमारी या वेश्या आदि के साथ गमन करना।

३ अप्राकृतिक रूप से मैथुन सेवन करना।

२. अपना दूसरा विवाह करना तथा दूसरों के विवाह सम्वन्ध स्थापित करते फिरना।

५ कामभोग की तीव्र अभिलाषा रखना।

५. **परिग्रह परिमाण अणुव्रत**—परिग्रह ससार का वडे से वड़ा पाप है।

---

१. उपासक दशांग, अ० १। २ उपासक दशांग अ० १।

आज ससार के समक्ष जो जटिल समस्याएं उपस्थित है, सर्वव्यापी वर्ग सघर्ष की जो दावाग्नि प्रज्वलित हो रही है, वह सब परिग्रह-मूर्छा की देन है। जब तक मनुष्य के जीवन मे अमर्यादित लोभ, लालच, तृष्णा, ममता या गृद्धि विद्यमान है, तब तक वह शान्तिलाभ नही कर सकता। अतएव परिग्रह की सीमा कर लेना आवश्यक है।

यही परिग्रहपरिमाण अणुव्रत कहलाता है। इस अणुव्रत का अगर व्यापक रूप से पालन किया जाय तो भूमंडल को स्वर्गधाम बनने मे पल भर देर न लगे। सर्वत्र सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाय। इस अणुव्रत का पालन करने के लिए निम्नलिखित पाच दोषो से बचना आवश्यक है—

१. मकानो, दुकानो तथा खेतो की मर्यादा को किसी भी बहाने से बढाना।

२. इसी प्रकार सोने-चादी आदि के परिमाण को भग करना।

३. द्विपद (नौकर) तथा चतुष्पद (गाय, घोडा आदि) के परिमाण का उल्लघन करना।

४ मुद्रा, जवाहरात आदि की मर्यादा को भग करना।

५ दैनिक व्यवहार मे आने वाली वस्त्र, पात्र, आसन आदि वस्तुओ के लिए परिमाण को उल्लघन करना।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत—पूर्वोक्त पाच अणुव्रत गृहस्थ के मूल व्रत है। उनका भली भाति आचरण करने के लिए कुछ और व्रतो की भी आवश्यकता होती है। जिनसे मूल व्रतो की सपुष्टि, और वृद्धि और रक्षा होती है। उन्हे उत्तर व्रत कहते है, उन्हे भी दो भागो मे विभक्त किया गया है। गुणव्रत और शिक्षा व्रत। गुणव्रत तीन, और शिक्षा व्रत चार है।[1] यह सब मिलकर श्रावक के बारह व्रत कहलाते है। उनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—

१ **दिग्व्रत**[2]—मनुष्य की अभिलाषा आकाश की भाति असीम और अग्नि की तरह वह समग्र भूमण्डल पर अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करने का मधुर स्वप्न ही नही देखती, वरन् उस स्वप्न को साकार करने के लिए विजय-अभिमान भी करती है। अर्थ लोलुपी मानव तृष्णा के वश होकर विभिन्न देशो मे परिभ्रमण करता है। विदेशो मे व्यापार-सस्थान स्थापित करता है और इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। मनुष्य की इस निरकुश तृष्णा को नियन्त्रित

---

१ औपपातिक सूत्र, वीरदेशना। २ उपासक दशाग अ० १।

करने के लिए दिग्व्रत का विधान किया गया है। इस व्रत का धारक श्रावक समस्त दिशाओ में गमनागमन की मर्यादा करता है, और उसमे बाहर सब प्रकार के व्यापारो का त्याग कर देता है।

२. उपभोग-परिभोग परिमाण—[1]एक बार भोगने योग्य आहार आदि उपभोग कहलाते हैं। जिन्हें पुन. पुनः भोगा जा सके, ऐसे वस्त्रपात्र, आदि को परिभोग कहते हैं। इन पदार्थों को काम में लाने की मर्यादा बाँध लेना उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत है। यह व्रत भोजन और कर्म (व्यवसाय) से दो भागो में विभक्त किया गया है। भोजन पदार्थों की मर्यादा करने से लोलुपता पर विजय प्राप्त होती है। व्यापार सम्बन्धी मर्यादा कर लेने से पापपूर्ण व्यापारो का त्याग हो जाता है।

३. अनर्थ दण्ड त्याग—बिना प्रयोजन हिंसा करना अनर्थदण्ड कहलाता है। विवेकशून्य मनुष्यों की मनोवृत्ति चार प्रकार से व्यर्थ ही पाप का उपार्जन करती है—

१. अपध्यान	–	दूसरो का बुरा विचारना।
२. प्रमादाचरित जाति	–	कुल आदि का मद करना तथा विकथा, निन्दा आदि करना।
३ हिंसाप्रदान	–	हिंसा के साधन-तलवार, बन्दूक, बम आदि का निर्माण करके दूसरो को देना, संहारक शस्त्रो का आविष्कार करना।
४ पापोपदेश	–	पाप-जनक कार्यो का उपदेश देना।

इस व्रत को अंगीकार करने वाला साधक कामवासना वर्द्धक वार्तालाप नही करता, कामोत्तेजक कुचेष्टाए नही करता। असभ्य-फूहड वचनो का प्रयोग नही करता, हिंसाजनक शस्त्रो के आविष्कार, निर्माण या विक्रय मे भाग नही लेता, और भोगोपभोग के योग्य पदार्थो मे अधिक आसक्त नही होता।

४ सामायिकव्रत—[2] मन की राग-द्वेषमय परिणति विषमभाव है। इस विषमभाव को दूर करके जगत् के समस्त पदार्थों मे तटस्थभाव समभाव स्थापित करना ही जैन साधना का उद्देश्य है। क्योंकि समभाव के अभाव म सच्ची शान्ति का लाभ नही हो सकता। इसी कारण आर्हती साधना चरम उद्देश्य समता को केन्द्र मानकर मुक्ति की ओर गया है।

---

१. उपासक दशांग अ० १। २. उपासक दशांग अ० १।

समभाव को प्राप्त करने, विकसित करने और स्थायी बनाने के लिए जिस व्रत का अनुष्ठान किया जाता है, वह सामायिक व्रत है। इस व्रत की आराधना का काल ४८ मिनिट निर्दिष्ट किया गया है। इस काल में गृहस्थ श्रावक को समस्त पापमय व्यापारो का त्याग करके आत्मचिन्तन करना चाहिए। सामायिक के समय मे प्राप्त हुई समभाव की प्रेरणा को जीवनव्यापी बनाने का यत्न करना चाहिए।

५ देशावकाशिकव्रत—[1] दिग्व्रत में जीवन पर्यन्त के लिए किये गए दिशाओ के परिमाण को एक दिन या न्यूनाधिक समय के लिए कम करना, और उस परिमाण से बाहर समस्त पाप कार्यों का त्याग करना देशावकाशिक व्रत है।

६. पौषधव्रत—[2] जिससे आत्मिक गुणो या धर्म भाव का पोषण होता है, वह पौषधव्रत कहलाता है। इस व्रत का आचरण प्राय. अष्टमी, चतुर्दशी आदि विशिष्ट तिथियो में किया जाता है। एक रात-दिन उपवास करना, अखड ब्रह्मचर्य का पालन करना, तत्वचिन्तन, ध्यान, स्वाध्याय एव आत्मरमण करना और सब प्रकार की सासारिक उपाधियो से छुटकारा लेकर साधु सरीखी वृत्ति धारण कर लेना, इस व्रत की चर्या है।

७. अतिथिसंविभाग—[3] जिनके आने का समय नियत नही है, उन्हें अतिथि कहते हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण पहले सूचना दिए बिना आते है। उन्हे सयमोपयोगी आहार आदि का दान करना अतिथि-सविभाग व्रत है।

सग्रहपरायण मनोवृत्ति को कृश करने, तथा त्यागभावना को जागृत एव विकसित करने के लिए इस व्रत की व्यवस्था की गई है।

अतिथि शब्द से मुख्यत साधु का अर्थ ध्वनित होता है, किन्तु श्रावक का हृदय इतना उदार, सदय और दानशील होता है कि साधु के सिवाय अन्य दीन-दुखी भी उसके द्वार से निराश होकर नही लौटता।

इन बारह व्रतो का पालन करने से आध्यात्मिक उन्नति, साजाजिक न्याय तथा स्व पर सुख की प्राप्ति होती है। प्रत्येक गृहस्थ यदि बारह व्रतो की

---

१ उपासक दशांग अ० १। २ उपासक दशाग अ० १।
३ उपासक दशाग अ० १।

मर्यादाओं का पालन करे तो संसार स्वर्ग बन सकता है, और प्रत्येक प्राणी के साथ बन्धुभाव स्थापित होने से अपूर्व शान्ति का वायुमण्डल निर्मित हो सकता है।

श्रावक के तीन प्रकार

व्रतों का अणु-आंशिक-रूप से पालन करना अणुव्रत कहलाता है। किन्तु प्रत्येक गृहस्थ की अणुरूप साधना भी समान कोटि की नही हो सकती। आखिर अपनी क्षमता के अनुसार ही गृहस्थ इन व्रतो का पालन कर सकता है, अतएव उसकी साधना में अनेक कोटिया हो जाना स्वाभाविक है। इन कोटि भेद के आधार पर श्रावक तीन प्रकार के होते है—

१. पाक्षिक, २ नैष्ठिक ३. साधक।

जो एक देश से (अंशत.) हिंसा का त्याग करके श्रावक धर्म अगीकार करता है, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। जब वह निर्दोष निरतिचार-रूप से व्रतो का पालन करने लगता है, तब नैष्ठिक कहलाता है। वही श्रावक जब पूर्ण रूप से देशचारित्र का पालन करता है और आत्मा की स्वरूपपरिस्थिति में लीन हो जाता है, तब साधक श्रावक कहलाता है।

जीवन-नीति

श्रावक और साधु दोनो ही मुमुक्षु होते है। दोनो आत्मशुद्धि के पथ के पथिक होते है। दोनो का उद्देश्य मुक्तिलाभ करना है। दोनो सयम की साधना में निरत रहते है और पाप से बचने का प्रयत्न करते है। फिर भी दोनो की परिस्थितियो मे अन्तर है। साधु सर्वथा अपरिग्रही और अनारभी समस्त पापकृत्यो के त्यागी होते है, किन्तु श्रावक गृहस्थ-अवस्था मे रहने के कारण ऐसा नही हो सकता। क्योकि उसका परिग्रह और आरम्भ अमर्यादित नही होता।

जैनशास्त्रो मे महापरिग्रह और उसके लिए किया जाने वाला महारभ नरक गति का कारण बतलाया गया है। अतएव श्रावक की जीवन नीति ऐसी सरल और सादी होनी चाहिए कि वह अल्पारभी और अल्पपरिग्रही रहकर ही अपना और अपने परिवार का निर्वाह कर ले। श्रावक का दर्जा पाने के लिए यह एक अनिवार्य शर्त है।

श्रावक परिग्रह की एक मर्यादा बाध लेता है, जिससे वह तृष्णा पर अकुश लगा सके। उस मर्यादा को निभाने के लिए वह भोगोपभोग की वस्तुओ

की मर्यादा कर लेता है, और निरर्थक सग्रह का भी त्याग कर देता है। इस प्रकार श्रावक का जीवन अत्यन्त सादा बन जाता है। आजीविका के निमित्त उसे कोई बड़ा पाप नही करना पड़ता।

जिस आजीविका या व्यवसाय से विशेष हिसा होती है, जिससे व्यक्ति में अनैतिकता बढती है, और समाज अथवा राष्ट्र को क्षति पहुचती है, श्रावक उससे दूर रहता है। जैन-परिभाषा मे ऐसा व्यवसाय कर्मादान कहलाता है। आदर्श श्रावक कर्मादान का त्यागी होता है।

वृक्षो को काट-काट कर कोयला बनाना, ठेका लेकर जगल को उजाडना, हाथी दात आदि का व्यापार करना, मदिरा जैसी मादक वस्तुओ का विक्रय करना। प्राणघातक विष बेचना, मनुष्यो मे बेकारी बढाने वाले यन्त्रो से धधा करना, और दुराचारिणी स्त्रियो से दुराचार करवा कर द्रव्योपार्जन करना, आदि निद्य कर्मों से श्रावक दूर रहता है।

उपासक दशाग सूत्र मे आदर्श श्रावको के चरित्र बतलाये गये है। उन श्रावको के पास जितनी भूमि, गाये और पूजी मौजूद थी, उतनी ही उन्होने परिग्रह की मर्यादा की थी। आनन्द श्रावक के यहा लाखो गाये थी। पाच सौ हलो से खेती होती थी। वह बडा व्यापार करता था फिर भी वह मर्यादा से ज्यादा परिग्रह नही होने देता था। इससे जान पडता है कि वह वाणिज्य कृषि और गोपालन करके, अपने सामाजिक कर्त्तव्य का पालन करता हुआ भी उससे कोई मुनाफा नही उठाता था, या अपने मुनाफे का सर्वसाधारण मे वितरण कर देता था।

कहा जा सकता है कि जिसे मुनाफा नही कमाना, उसे व्यापार करने की आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यह है कि व्यापार का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वार्थसाधना नही, वरन् समाज सेवा करना है। प्रजा के अभावो की पूर्ति के लिए व्यापार होना चाहिए। सब जगह सभी वस्तुएं सुलभ नही होती। कोई वस्तु कही इतने अधिक परिमाण मे पैदा होती है कि अन्यत्र न भेजी जाय, तो वृथा पडी-पडी सडती रहे। दूसरी जगह उसके अभाव मे लोग कष्ट पाते है। इस परिस्थिति मे व्यापारी सामने आता है, और वह जरूरत वाली जगह पर उस चीज को ले जाकर प्रजा के अभाव को दूर करता है।

व्यापारी न हो तो प्रजा अभावग्रस्त होकर परेशान हो जाय, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पृथक्-पृथक् आयोजन नही कर सकता।

व्यापारी की यह महत्त्वपूर्ण सेवा है। यह सेवा करता हुआ व्यापारी अपने निर्वाह के लिए कुछ अश बचा लेता है। जिसे मुनाफा कहते हैं। जिस व्यापारी के जीवन निर्वाह का दूसरा स्रोत मौजूद है, उसे मुनाफा लेने की आवश्यकता नहीं। फिर भी वह प्रजा के अभावो को दूर करने के लिए सेवा के रूप में व्यवसाय करता है।

'जैनशास्त्र इस आदर्श व्यापार नीति की ओर सकेत करते हैं। श्रावक की जीवन-नीति की इससे अच्छी कल्पना आ सकती है।

जैन श्रावक सन्तोष के साथ अपना जीवन निर्वाह करता है। प्रतिदिन वीतराग देव की पूजा (भाव-भक्ति) करना, गुरु की उपासना करना, स्वाध्याय करना, सयम का सेवन करना, यथाशक्ति तपस्या करना और यथोचित दान देना गृहस्थ का दैनिक कर्त्तव्य है।

चारित्र का मूलाधार अहिंसा

गृहस्थ के व्रतो का जो शब्द-चित्र खीचा गया है, उसे पढने से एक बात सहज ही ध्यान मे आ सकती है, वह यह है कि वहा ससार को छोडकर भागने की बात नही है। ससार को मिथ्या मानने या अवास्तविक कहने की भ्रमपूर्ण बात भी नही है। जगत् के प्राणियो से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने का प्रश्न भी नही है। इस समग्र साधना का प्रधान-आधार है—"सर्वभूतात्मभूतता" अर्थात् प्राणीमात्र को आत्मीय भाव से अगीकार करना। दूसरे शब्दो मे यही अहिसा है। अहिसा की भूमिका पर ही व्रतो की विशाल अट्टालिका का निर्माण हुआ है।

अहिसा से ही सर्वसमासंस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ है। मानवता के उत्थान और आत्मविस्तार का माध्यम अहिसा ही है। अहिसा से ही सार्वभौम शान्ति का सर्जन होगा। यही कारण है कि जैनधर्म मे अहिसा को ही धर्म एव सदाचार की कसौटी माना गया है।

अहिसा जैन सस्कृति की आत्मा है। अहिसा से ही आत्मा की पुष्टि होती है। अहिसा आध्यात्मिक जीवन की नीव है, जीवन का मूल मन्त्र है। अहिसा दैवी शक्ति है, अहिसा परम धर्म, और परम ब्रह्म है। अहिसा वीरता की सच्ची निशानी है।

मानव और दानव मे अहिसा और हिसा का ही अन्तर है। अहिसा ही सुख-शान्ति की जननी, और जगत् की रक्षा करने वाली अलौकिक शक्ति है।

साढे बारह वर्ष और पन्द्रह दिन तक कठोरतम तपश्चर्या करने के पश्चात् भगवान् महावीर ने सर्वज्ञ समदर्शी होकर जो मौनभग किया तो उनके मुख से यही घोष हुआ—"मा हण, मा हण।" किसी प्राणी को मत मारो, मत मारो। किसी का छेदन न करो, न करो। किसी को परिताप न पहुचाओ। मारोगे तो मरना पडेगा। छेदोगे तो छिदना पडेगा, भेदोगे तो भिदना पडेगा। परिताप पहुचाओगे तो परितप्त होना पडेगा।"

भगवान् ने कहा—जो अरिहन्त अतीत-काल में हो चुके है, वर्तमान में विद्यमान है, और भविष्य मे होगे उन सब का एक ही आदेश और एक ही उपदेश है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व को किसी भी प्रकार से क्लेश न पहुचाया जाय। यही धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है। ज्ञानी-जनो ने पूरी तरह अनुभव करके और ससार के स्वरूप का विचार करके इस धर्म की प्ररूपणा की है।

छोटे-मोटे सभी प्राणियो को दुःख अप्रिय, और सुख प्रिय है। सभी को जीवन इष्ट और मरण अनिष्ट है।

तुम अपने सुख के लिए दूसरो को सताओगे, तो दूसरे भी अपने सुख के लिए तुम्हे सताएगे। इस प्रकार सभी जीव हिसा के द्वारा सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करगे, तो परिणाम मे दु ख ही आगे आएगा। कोई सुखी न हो सकेगा। अतएव जैनधर्म ने दृढतापूर्वक यह विधान किया है कि भगवती अहिसा की वरदायिनी छत्रछाया में ही वास्तविक सुख की उपलब्धि हो सकती है।

मुनि धर्म

वय और योग्यता—विश्व के समस्त धर्म त्याग को प्रधानता देते हैं। परन्तु जैनधर्म ने त्याग की जो मर्यादाए स्थापित की है, वे असाधारण है। वैदिक धर्म के समान जैनधर्म ने त्यागमय जीवन अगीकार करने लिए वय-विशेष का कोई निर्धारण नही किया है। वह नही कहता कि जीवन के तीन चरण बीतने के बाद अन्तिम चौथा चरण सन्यास के लिए है। जीवन क्षण-भगुर है और कोई नही जानता कि कौन जीवन के चारो चरण समाप्त कर सकेगा और कौन नही ? मृत्यु मनुष्य के मस्तक पर सदैव मडराती रहती है और किसी भी क्षण जीवन का अन्त आ सकता है। यही कारण है कि जैन-शास्त्र आश्रम-व्यवस्था को स्वीकार नही करते।

वय पर जोर न देने पर भी जैनशास्त्रो में त्यागमय जीवन अगीकार

करने वाले व्यक्ति की योग्यता अवश्य निर्धारित कर दी गई है। जिसे शुभ तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो चुकी है, जिसने आत्मा अनात्मा के स्वरूप को समझ लिया है, जो भोग को रोग और इन्द्रियविषयों को विष समझ चुका है, अतएव जिसके मानस-सर में वैराग्य की ऊर्मियां लहराने लगी हैं, वही त्यागी बनने के योग्य है।

पूर्ण विरक्त होकर, शरीर-सम्बन्धी ममत्व का भी परित्याग करके जो आत्मा-आराधना में ही सलग्न रहना चाहता है, वह मुनि धर्म अंगीकार करता है।

समाज का रक्षक, राष्ट्र का सैनिक और परिवार का पोषक बन कर ही मनुष्य पूर्णता नही प्राप्त कर सकता। उसे इन कर्त्तव्यो से भी पार होकर जीवन के अन्तिम मार्ग को अकेले होकर भी पार करना पड़ता है। तभी आत्मा को सर्वोच्च सिद्धि का लाभ होता है। चरम साधना के बीहड़ पथ पर एकाकी चल पडने वाला साधक ही मुनि, श्रमण साधु, भिक्षु या त्यागी कहलाता है।

श्रमणत्व की उच्च भूमिका स्पर्श करने के लिए गृह-परिवार, धन सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थों का त्याग करना पड़ता है, मगर यही पर्याप्त नहीं है। सच्चा श्रमण वही है[1] जो जीवन मे गहरी जड जमाये हुए आन्तरिक विकारो पर विजय प्राप्त कर सकता है तथा जिसके लिए मान-अपमान, निन्दा-स्तुति और जीवन-मरण एकाकार हो जाते हैं, वह तिरस्कार के गरल को अमृत बना कर पी जाता है। मगर कटुक वचन बोलकर किसी का तिरस्कार नही करता। वह अनीह और अनासक्त रह कर भी सम्पूर्ण पृथ्वी को अपना मानता है और ससार के जीवो को मैत्री और करुणा प्रदान करता है। वह चलती फिरती सस्था बनकर जगत् मे आध्यात्मिकता की उज्ज्वल ज्योति प्रज्वलित रखता है।

श्रमण का अहम् इतना विराट् रूप धारण कर लेता है कि किसी भी कृत्रिम परिधि में वह समा नही सकता। इसलिए वह राष्ट्रीय अहम् का समर्थन नही करता। उसके आगे यह सब मनोवृत्तियां सकीर्ण है। अवास्तविक है। अखण्ड जीवन के प्रति उसकी आस्था है, विभिन्न रग-रूपो मे बटी टुकडियो मे नही।

साधु ससार की भलाई मे कभी विमुख नही होता, परन्तु उसका प्रतिफल पाने की किसी भी प्रकार की कामना नही रखता। वह अपनी पीडा को वरदान मानकर तटस्थ भाव से सहन कर जाता है, मगर परपीड़ा उसके लिए

---

१. उत्तराध्ययन, अ० १९, गा० ८९, ९०, ९२।

असह्य होता है। यह सत्य है कि उसकी साधना का केन्द्रविन्दु आत्मोत्थान ही है, किन्तु लोककल्याण उसके आत्मोत्थान का साधन होती है। आत्मकल्याण के उद्देश्य से लोक कल्याण करने करने वाले के चित्त मे अहकार नही उत्पन्न होता, और इस प्रकार साधु अपनी साधना को कलुषित होने से बचा लेता है, क्योकि उसके मन मे यह भाव बराबर बना रहता है कि मैं अपनी भलाई के लिए दूसरो की भलाई कर रहा हू। जैन साधु वह नौका है, जो स्वय तैरती है और दूसरो को भी तारती है।

भगवान् महावीर कहते है—साधुओ! श्रमण निर्ग्रन्थो के लिए लाघव—कम-से-कम साधनो से निर्वाह करना, निरीहता—निष्काम वृत्ति, अमूर्च्छा-अनासक्ति, अगृद्धि, अप्रतिवद्धता, अक्रोधता, अमानता, निष्कपटता और निर्लोभिता ही प्रशस्त है।

इस प्रकार की साधना के द्वारा साधु अपने जन्म-मरण का अन्त करता है, और पूर्ण सिद्धि लाभ कर परमात्मपद प्राप्त कर लेता है।

यो तो जैनशास्त्रो मे साधु के आचार-विचार की प्ररूपणा बहुत विस्तार से की गई है। उसका सक्षिप्त वर्णन करने पर भी कई पुस्तके बन सकती है। तथापि यहा अतिसक्षेप मे उसका दिग्दर्शन कराना है।

पांच महाव्रत

पाच महाव्रत साधुत्व की अनिवार्य शर्त है। इनका भलीभाति पालन किए विना कोई साधु नही कहला सकता। महाव्रत इस प्रकार है—

१ अहिंसामहाव्रत—जीवनपर्यन्त त्रस और स्थावर सभी जीवो की मन, वचन, काय से हिसा न करना, दूसरो से न कराना, और हिंसा करने वाले को अनुमोदन न देना, अहिसा महाव्रत है।

साधु का मन अमृत कुण्ड, वाणी अमृत का प्रवाह, और काया अमृत की देह के समान होती है। प्राणी मात्र पर वह अखड करुणा की वृष्टि करता है। अतएव वह निर्जीव हुए अचित्त जल का ही सेवन करता है। अग्निकाय के जीवो की हिसा से बचने के लिए अग्नि का उपयोग नही करता। पखा आदि हिलाकर वायु की उदीरणा नही करता। कन्द, मूल, फल आदि किसी भी प्रकार की वनस्पति का स्पर्श तक नही करता। पृथ्वी काय के जीवो की रक्षा के लिए जमीन खोदने आदि की क्रियाए नही करता। महाव्रत-धारी स्थावर और चलते-फिरते त्रस जीवो की हिसा का पूर्ण त्यागी होता है।

२. सत्यमहाव्रत—मन से सत्य सोचना, वाणी से सत्य बोलना और काय से सत्य का आचरण करना और सूक्ष्म असत्य का भी कभी प्रयोग न करना, सत्य महाव्रत है।

आत्मसाधक पुरुष सत्य को भगवान् मानता है। वह मन, वचन या काया से कदापि असत्य का सेवन नही करता। उसे मौन रहना प्रियतर प्रतीत होता है, फिर भी प्रयोजन होने पर परिमित, हितकर, मधुर और निर्दोष भाषा का ही प्रयोग करता है। वह विना सोचे-विचारे नही बोलता। हिंसा को उत्तेजना देने वाला वचन नही निकालता। हसी-मजाक आदि बातो से, जिनके कारण असत्य-भाषण की सभावना रहती है, उससे दूर रहता है।

३. अचौर्य महाव्रत—मुनि संसार की कोई भी वस्तु, उसके स्वामी की आज्ञा लिए विना ग्रहण नही करते, चाहे वह शिष्य आदि हो चाहे निर्जीव घास आदि हो। दात साफ करने के लिए तिनका जैसी तुच्छ चीज भी आज्ञा लिए विना नहीं लेते।

४ ब्रह्मचर्य महाव्रत—साधक कामवृत्ति और वासना का नियमन करके पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

इस दुर्धर महाव्रत का पालन करने के लिए अनेक नियमो का कठोरता के साथ पालन करना आवश्यक होता है। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(क) जिस मकान मे स्त्री का निवास हो, उसमे न रहना।[1]
(ख) स्त्री के हाव-भाव, विलास आदि का वर्णन करना।
(ग) स्त्री-पुरुष का एक आसन पर न वैठना।
(घ) स्त्री के अंगोपांगो को स्थिर दृष्टि से न देखना।
(ङ) स्त्री-पुरुष के कामुकतापूर्ण शब्द न सुनना।
(च) अपने पूर्वकालीन भोगमय जीवन को भुला देना और ऐसा अनुभव करना कि शुद्ध साधक के रूप मे मेरा नया जन्म हुआ है।
(छ) सरस, पौष्टिक, विकारजनक, राजस और तामस आहार न करना।
(ज) मर्यादा से अधिक आहार न करना। मुर्गी के अडे के बराबर

---

१ जैसे साधक पुरुष के लिए स्त्री का सम्पर्क वर्ज्य है, उसी प्रकार स्त्री के लिए पुरुष का सम्पर्क भी वर्जनीय है।

अधिक से अधिक बत्तीस कौर भोजन करना साधु के आहार की मर्यादा है।

(ञ) स्नान, मंजन, शृंगार आदि करके आकर्षक रूप न बनाना।

५. अपरिग्रह महाव्रत—साधु परिग्रहमात्र का त्यागी होता है, फिर भले ही वह घर हो, धन-धान्य हो, या द्विपद-चतुष्पद हो या कुछ अन्य हो। वह सदा के लिए मन, वचन, काय से समस्त परिग्रह को छोड देता है। पूर्ण असग अनासक्त, अपरिग्रह और अममत्वी होकर विचरण करता है। साधुता का पालन करने के लिए उसे जिन उपकरणो की अनिवार्य आवश्यकता होती है, उनके प्रति भी उसे ममत्व नही होता।

यद्यपि मूर्छा को परिग्रह कहा गया है, तथापि बाह्य पदार्थो के त्याग से अनासक्ति का विकास होता है, अतएव बाह्य पदार्थो का त्याग भी आवश्यक माना गया है।

पांच समिति

पाप से बचने के लिए मन की प्रशस्त एकाग्रता, समिति कहलाती है। महाव्रतो की रक्षा के लिए पाँच प्रकार की समितियाँ साधु धर्म का आवश्यक अग है। वह इस प्रकार है—

१ ईर्यासमिति	–	जीवो की रक्षा के लिए, सावधानी के साथ, चार हाथ आगे की भूमि देखते चलना।
२. भाषा-समिति	–	हित, मित, मधुर और सत्य भाषा बोलना।
३. एषणासमिति	–	निर्दोष एव शुद्ध आहार ग्रहण करना।
४ आदाननिक्षेपणसमिति	–	किसी भी वस्तु को सावधानी के साथ उठाना या रखना, जिससे किसी जीव-जन्तु का घात न हो जाय।
५. परिष्ठापनिका-समिति	–	मल-मूत्र आदि को ऐसे स्थान पर विसर्जित करना जिससे जीवोत्पत्ति न हो और किसी को घृणा या कष्ट भी न हो।

तीन गुप्ति

इन्द्रियो का और मन का गोपन करना, अर्थात् उन्हे असत्य प्रवृत्ति से हटाकर आत्माभिमुख कर लेना, गुप्ति के तीन भेद इस प्रकार है—

१. मनोगुप्ति	—	मन को अप्रशस्त, अशुभ वा कुत्सित संकल्पो से हटाना ।
२. वचनगुप्ति	—	असत्य, कर्कश, कठोर, कष्टजनक अथवा अहितकर भाषा के प्रयोग को रोकना ।
३. कायगुप्ति	—	शरीर को असत् व्यापारो से निवृत्त करके शुभ व्यापार में लगाना, उठने बैठने, सोने, जागने आदि शारीरिक क्रियाओ मे यत्ना—सावधानी रखना ।

अनाचीर्ण

साधु की साधना का व्यवस्थित रूप से निर्वाह हो, इस प्रयोजन से जैनशास्त्रों मे बावन अनाचीर्णो का उल्लेख कर दिया गया है। अनाचीर्ण वह कृत्य है जिनका महर्षि साधको ने आचरण नही किया है। अतएव जो अनाचरणीय है, इनमे साधु की लगभग सारी त्याज्य बाह्य चर्या का समावेश हो जाता है। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. औद्देशिक	—	अपने निमित्त बनाये हुए भोजन, पानी, मकान या किसी भी अन्य पदार्थ को ग्रहण करना ।
२. नित्यपिण्ड	—	हमेशा एक ही घर से आहार लेना, भ्रामरी-वृत्ति का आश्रय न लेना ।
३. क्रीतकृत	—	साधु के लिए खरीदी हुई वस्तु ले लेना ।
४. अभ्याहृत	—	उपाश्रय मे या जहा साधु ठहरा हो, वहां श्रावक आहार आदि लाकर दे और उसे ग्रहण कर लेना ।
५. त्रिभक्त		रात्रि मे भोजन करना ।
६. स्नान	—	नहाना ।
७. गंध	—	इत्र, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ काम मे लाना ।
८. माल्य	—	माला पहनना ।
९. वीजन	—	पखे, पुट्ठे या वस्त्र आदि से हवा करना ।
१० सन्निधि	—	दूसरे दिन के लिए भोजन का सग्रह कर रखना ।
११. गृहिपात्र	—	गृहस्थ के पात्र मे आहार करना ।
१२. राज पिण्ड	—	राजा के लिए बना पौष्टिक आहार लेना ।
१३. किमिच्छक दान	—	दानशाला आदि में जाकर सदावर्त लेना, भिखारियो को दी जाने वाली भिक्षा मे से हिस्सा बटा लेना ।

१४. संवाहन	–	शरीर को आनन्द देने वाला तैलमर्दन करना।
१५. दन्तधावन	–	मजन आदि का प्रयोग करके दातो को चमकदार बनाना।
१६. सप्रश्न	–	गृहस्थो से उनकी निजी पारिवारिक बाते पूछना।
१७. देहप्रलोकन	–	काच आदि मे मुह देखना।
१८. अष्टापद	–	जुआ खेलना।
१९. नालिक	–	चौपड़ आदि खेलना।
२०. छत्रधारण	–	सिर पर छतरी आदि ओढना।
२१. चिकित्सा	–	रोग न होने पर भी वलवृद्धि के लिए औषध सेवन करना। चिकित्सा करवाना।
२२. उपानह	–	जूते, खडाऊ, मौजे आदि पहनना।
२३. ज्योतिरारभ	–	दीपक जलाना, चूल्हा जलाना अथवा किसी भी प्रकार से अग्नि का व्यवहार करना।
२४. शय्यातरपिण्ड	–	जिसकी आज्ञा लेकर मकान मे ठहरा हो, उसके घर से आहार लेना।
२५. आसन्दी	–	पलग, खाट आदि का उपयोग करना।
२६. गृहान्तरनिषद्या	–	रोग, तपश्चर्या जनित दुर्बलता एव वृद्धावस्था आदि विशेष कारण के बिना गृहस्थ के घर मे बैठना।
२७ गात्रमर्दन	–	पीठी आदि लगाना।
२८. गृहिवैयावृत्य	–	गृहस्थ से पैर दबवाने आदि की सेवा लेना या उसकी सेवा करना।
२९. जात्याजीविका	–	सजातीय या सगोत्री बनकर आहार आदि प्राप्त करना।
३० तप्तानिवृत्ति	–	पूरी तरह उचित न होने पर भी, जल आदि ले लेना।
३१. आतुरस्मरण	–	कष्ट आने पर अपने कुटुम्बी जनो का स्मरण। करना, पत्नी-पुत्र आदि को याद करना।
३२. मूली खाना	–	
३३. अदरख खाना	–	
३४. इक्षुखड	–	गडेरिया लेना।
३५. कन्दो का उपभोग करना।		

३६. जडी-बूटी आदि काम में लाना।
३७. सचित्त फल खाना।
३८. बीजों का भक्षण करना।

३९-४५		सौचल नमक, सैंधा नमक, सामान्य नमक, रोम-देशीय नमक, समुद्री नमक, पाखुखार नमक काम मे लेना।
४६. धूपन	–	शरीर या वस्त्र आदि को धूप देना।
४७. वमन	–	निष्कारण मुह मे उंगली डाल कर या औषध लेकर वमन करना।
४८-४९. वस्तीकर्म	–	गुदामार्ग से कोई वस्तु पेट मे डालकर दस्त करना तथा जुलाब लेना।
५०. अजन	–	काजल या सुरमा लगाना।
५१. दन्तवर्ण	–	दांत रगना।
५२.	–	शारीरिक बलवृद्धि के लिए कुश्ती आदि व्यायाम करना।

जैन साधु के लिए इन अनाचीर्णो का त्याग करना आवश्यक है।

बारह भावनाएँ

मनुष्य के बाह्य व्यवहार उसके मनोभावो के मूर्त्तरूप होते है। अतएव साधना को सजीव बनाने के लिए मन को साधने की अनिवार्य आवश्यकता है। मन को साधने तथा श्रद्धा और विरक्ति की स्थिरता और वृद्धि के लिए जैन शास्त्रों मे अनुप्रेक्षाओ का विधान है। पुन. पुन. चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। इसके बारह प्रकार है —

१ **अनित्य भावना**—जगत् का प्रत्येक पदार्थ नाशशील है, अनित्य है, धन, वैभव, सत्ता परिवार आदि सब क्षण भगुर है। लक्ष्मी सध्याकालीन लालिमा की भाति अनित्य है। जीवन जल के बुलबुले के समान है, और यौवन बादल की छाया के समान है। इनके नष्ट होने मे विलम्ब नही लगता। इन अनित्य पदार्थो के लिए नित्य आनन्द से वचित होना बुद्धिमत्ता नही है।

२. **अशरण भावना**—विकराल मृत्यु के पजे मे से कोई किसी को बचा नहीं सकता। अन्तिम समय मे विशाल सैन्य, बल, धन के भण्डार और बृहद परिवार कुछ काम नही आता। अतएव किसी पर भरोसा करना नादानी है।

३ **संसार भावना**—इस भावना मे ससार के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। यथा ससार मे क्या राजा, क्या रक, कोई सुखी नही है। प्रत्येक को किसी न किसी प्रकार का दुःख सता रहा है। सभी ससारी जीव जन्म-मरण के चक्कर मे पडे हैं। आज जो आत्मीय है, अगले जीवन मे वही पराया वन जाता है। पराया अपना हो जाता है। अतएव अपने पराये का भेदभाव कल्पना पर निर्भर है। न कोई अपना है, न पराया है।

४. **एकत्व भावना**—जीव अकेला ही जन्मता, मरता और सुख-दुःख भोगता है। परलोक की महायात्रा के समय कोई किसी का साथ नही देता।

५. **अन्यत्व भावना**—जगत् के समस्त पदार्थों से आत्मा को भिन्न मानना और उस भिन्नता का बार-बार चिन्तन करना, अन्यत्वभावना है।

६. **अशुचिभावना**—शरीर सम्बन्धी मोह को नष्ट करने के लिए शरीर की अशुचिता-अपावनता का पुनः पुन चिन्तन करना वैराग्यवृद्धि के लिए अत्यन्त उपयोगी होता है।

७. ***आस्रव भावना***—दुःखो के कारणो पर विचार करना आस्रव-भावना है। दुःखो का कारण कर्मबन्ध है। कर्मों का बन्ध किन-किन कारणो से होता है? राग, द्वेष, अज्ञान, मोह, हिसा, असत्य, असन्तोष, प्रमाद, कषाय आदि किस प्रकार आत्मा को कर्मों से लिप्त कर देते है? इत्यादि चिन्तन आस्रव भावना है।

८. **संवर भावना**—दुःखो के एव कर्मबन्ध के कारणो का किस प्रकार निरोध किया जा सकता है। यह चिन्तन करना सवरभावना है।

९. **निर्जरा भावना**—जो कर्म पहले बन्ध चुके है, उन्हे किस प्रकार नष्ट किया जा सकता है, इस प्रकार का चिन्तन करना निर्जरा भावना है।

१०. **लोकभावना**—लोक के पुरुषाकार स्वरूप का चिन्तन करना, लोकभावना है।

११. **बोधिदुर्लभ भावना**—जिससे आत्मा का उत्थान होता है, जिसमे सार असार का विवेक प्राप्त होता है और जिसके प्रभाव से आत्मा मुक्ति प्राप्त करने मे समर्थ बनता है, वह ज्ञान बोधि कहलाता है। उसकी दुर्लभता का विचार करना बोधिदुर्लभ भावना है।

१२ **धर्मभावना**—धर्म के स्वरूप का और उसकी महिमा का चिन्तन करना धर्मभावना है।

चार भावना

इन बारह भावनाओ के अतिरिक्त साधक के जीवन को उन्नति के शिखर की ओर ले जाने के लिए चार भावनाए और है—मैत्री, प्रमोद, करुणा, और मध्यस्थ।

१. **मैत्री-भावना**—जब तक साधक के अन्त.करण मे प्राणीमात्र के प्रति मैत्री का भाव विकसित नही होता, तब तक अहिंसा का पालन भी नही हो सकता दूसरो के प्रति आत्मीयता के भाव की स्थापना और अपनी तरह दूसरो को दुखी न करने की वृत्ति, अथवा इच्छा, मैत्री कहलाती है। मैत्री भावना का विकास होने पर मनुष्य दूसरे का कष्ट देखकर छटपटाने लगता है, और उनका निवारण करने लिए कोई कसर नही रखता है।

मनुष्य की हृदय भूमिका जब मैत्रीभाव से सुसस्कृत हो जाती है, तभी उसमें अहिंसा सत्य आदि के पौधे पनपते है। उसके अन्त करण से अनायास ही यह शब्द फूट पडते है—

मित्ती मे सव्वे भूएसु।
वेरं मज्झं ण केणई॥

इस भूतल पर बसने वाले प्राणी, चाहे वे मनुष्य हो पशु-पक्षी हो अथवा कीट-पतग हों, मेरे मित्र है। कोई मेरा शत्रु नही है। क्योकि ससार के समस्त प्राणियो के साथ मेरा अनन्त-अनन्त बार आत्मीयता का सम्बन्ध हो चुका है।

इस प्रकार की मैत्रीभावना की परिधि ज्यो-ज्यो बढ़ती जाती है, आत्मा में समभाव का विकास होता चला जाता है और राग-द्वेष का बीज क्षीण होता जाता है। अन्त मे मनुष्य को ऐसी स्थिति प्राप्त होती है, जहां जीव मात्र में आत्मदर्शन होने लगता है। उस स्थिति मे हिंसा या पर पीड़ा के लिए कोई अवकाश नही रहता।

२. **प्रमोद भावना**—गुणी जनो को देखकर अन्त करण मे उल्लास होना प्रमोदभावना है। प्राय. मनुष्य मे एक मानसिक दुर्बलता देखी जाती है। वह यह कि एक मनुष्य अपने से आगे बढे हुए मनुष्य को देखकर ईर्ष्या करता है। यही नहीं, कभी-कभी ईर्ष्या से प्रेरित होकर वह उसे गिराने का भी प्रयत्न करता है। जब तक इस प्रवृत्ति का नाश न हो जाय, अहिंसा और सत्य आदि टिक नही सकते। इस दुर्वृत्ति को नष्ट करने के लिए प्रमोदभावना का विधान किया गया है।

३ कारुण्य-भावना—पीड़ित प्राणी को देखकर हृदय मे अनुकम्पा होना पीड़ा का निवारण करने के लिए यथोचित प्रयत्न करना करुणा-भावना है। करुणा भावना के अभाव मे अहिंसा आदि व्रत सुरक्षित नही रह सकते। मन मे जब करुणा भावना सजीव हो उठती है तो मनुष्य अपने किसी व्यवहार अथवा विचार से किसी को कष्ट नही पहुचा सकता। यही नही, किसी दूसरे निमित्त से कष्ट पाने वाले की उपेक्षा भी वह नहीं कर सकता।

४. मध्यस्थभावना—जिनसे विचारो का मेल नही खाता अथवा जो सर्वथा संस्कारहीन है, किसी भी प्रकार की सद्‌वस्तु को ग्रहण करने के योग्य नही है, जो गलत राह पर चला जा रहा है और सुधारने तथा सही रास्ते पर लग्ने का प्रयत्न सफल नही हो रहा है, उसके प्रति उपेक्षाभाव रखना मध्यस्थ भावना है।

मनुष्य मे प्राय असहिष्णुता का भाव देखा जाता है। वह अपने विरोधी या विरोध को सहन नही कर पाता। मतभेद के साथ मन-भेद होते देर नही लगती। किन्तु यह भी एक प्रकार की दुर्बलता है। इस दुर्बलता को दूर करने के लिए माध्यस्थभाव जगाना आवश्यक है। इस भावना से विरोधी विचार मनुष्य को क्षुब्ध नहीं करता और उसका समभाव सुरक्षित बना रहता है।

यह चार भावनाए आनन्द का निर्मल निर्झर हैं। मनुष्य का जो आन्तरिक सताप शीतल पवन, चन्दन-लेप या चन्द्रमा की अह्लादजनक किरणो से भी शान्त नही हो सकता, उसे शान्त करती है। इन भावनाओ से जीवन विराट् और समग्र बनता है। जिन आध्यात्मिक गुणो के विकास के लिए साधना का पथ अंगीकार किया जाता है उनके विकास में यह उपयोगी सिद्ध होती है।

दशविध धर्म

यद्यपि जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त न कर सकने के कारण जन्म-मरण के चक्र मे पडा है, फिर भी स्वभाव से वह अमरत्व का स्वामी है। मरना उसका स्वभाव नही है। अपने इस स्वभाव के प्रति अव्यक्त आकर्षण होने से ही जीव को मरना अनिष्ट है। अन्यान्य जीवधारियों में तो विवेक का विकास नही है, मगर मनुष्य विकसित प्राणी है। उसके सामने भविष्य का चित्र रहता है। वह जानता है कि इस जीवन का अन्त अवश्यम्भावी है। अतएव वह जब शरीर से अमर रहना असम्भव समझता है, तो किसी दूसरे रूप मे अमर होने का प्रयत्न करता है। कोई कीर्ति को चिरस्थायी बना कर अमर रहना चाहता है, कोई सन्तान परम्परा के रूप मे अपने नाम पर विजयस्तम्भ बनाना, अथवा

दूसरे स्मारक खडे करना, यह सब अमर बनने की आन्तरिक प्रेरणा का ही फल है। मगर खेद है कि कोई भी भौतिक पदार्थ मनुष्य की इस अभिलाषा को तृप्त नही कर सकता। भौतिक पदार्थ सब नाशशील है, और जो स्वयं नाशशील है, वह दूसरे को अमर कैसे बना सकता है।

हा, अमरत्व प्रदान करने की शक्ति है धर्म मे। जैनशास्त्र कहते है कि दशविध धर्म मनुष्य को अमर बनाता हे।[1] इसी कारण जैन साधुओं के लिए इनका पालन करना आवश्यक बतलाया गया है। उसका संक्षिप्त स्वरूप यह है—

१ क्षमा—क्षमा अहिंसा धर्म का एक विभाग है। अपराधी को क्षमा देने और अपने अपराध के लिए क्षमा याचना करने से जीवन दिव्य बन जाता है।

जैनशास्त्र मे साधु के लिए दृढतापूर्वक क्षमा याचना करने का विधान है। शास्त्र कहता है साधुओ! तुमसे किसी का अपराध हो गया हो तो सारे काम छोड दो और सब से पहले क्षमा मागो। जब तक क्षमा न मांग लो; भोजन मत करो, शौच मत करो और स्वाध्याय मत करो। क्षमा याचना करने से पहले मुह का थूक गले न उतारो।

तीर्थकरो के इस कठोर विधान का परिणाम यह है कि न केवल जन मे ही वरन् श्रावक मे भी, क्षमायाचना की परम्परा अब तक अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। वे प्रतिदिन, प्रति पखवाड़े, प्रति चौमासी और प्रतिवर्ष खुले हृदय से अपने अपराधों के लिए क्षमायाचना करते है। जैनो का सबसे बडा धार्मिक पर्व, जो पर्यूषण के नाम से विख्यात है, क्षमा याचना का ही पर्व है। उस समय समस्त जैन मुनि और श्रावक सभी जीवो से अपने से ज्ञात-अज्ञात सभी अपराधो के लिए विनम्र भाव से क्षमा मांगते हैं।

२. मार्दव—चित्त मे कोमलता और व्यवहार मे नम्रता होना मार्दव धर्म है। मार्दव की साधना विनय से होती है। जैन धर्म मे विनय को इतना महत्व दिया जाता है कि जैन-धर्म विनयमूलक धर्म ही कहलाता है। शास्त्र कहते है—"धम्मस्स विणओ मूल।" अर्थात् धर्म की जड विनय है।

मार्दव धर्म की सिद्धि के लिए जाति, कुल, धन, वैभव, सत्ता बल, बुद्धि

---

१. हरिभद्र सूरि द्वारा उद्धृत, संग्रहणी गाथा, समवायांग १० समभाव स्थानांग सूत्र।

श्रुति और तपस्या आदि के मद का त्याग करना आवश्यक है। अपने आपको ऊची जाति और उच्च कुल का समझ कर दूसरो के प्रति हीनता का भाव रखता इसी प्रकार धन, वैभव आदि के घमण्ड मे आकर किसी को तुच्छ समझना मद है। साधु सब प्रकार के मदो का त्याग करके मार्दव धर्म की आराधना करते हैं।

३ आर्जव—ऋजुता अथवा सरलता को आर्जव कहते हैं। विचार, वाणी और व्यवहार की एकरूपता होने पर इस धर्म की साधना होती है। इस की साधना के लिए कुटिलता का त्याग करना अनिवार्य है।

आर्जव धर्म समाज में पारस्परिक विश्वास के लिए जितना आवश्यक है उतना ही बुद्धि की निर्मलता के लिए भी आर्जव से निर्मल बनी हुई बुद्धि वस्तु के सत्य स्वरूप को ग्रहण करने मे समर्थ होती है। कुटिलता के त्यागी पुरुप को किसी प्रकार का छल कपट प्रपच नही करना पडता। उसका चित्त शान्त, कलुषताहीन और सरल रहता है।

४ शौच—लोभ का त्याग करना शौच धर्म है। साधक के जीवन मे रहा हुआ तुच्छ पदार्थ का लोभ भी अनर्थकारक होता है, लोभ से सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव साधक को शिष्य लोभ, कीर्तिलोभ, और प्रतिष्ठा लोभ से भी दूर रहना होता है। धन-सम्पत्ति आदि भौतिक पदाथो का लोभ तो उसे स्पर्श कर ही नही सकता।

५. सत्य—पाच अणुव्रतो एव महाव्रतो के विवेचन मे सत्य उल्लेख किया जा चुका है। मूल व्रतो मे सत्य की गणना करके भी पुन' दश धर्मों में उसे स्थान देना, सत्य के विशिष्ट महत्व का वोधक है। जैन शास्त्रो मे वडे ही मार्मिक और प्रभावशाली शब्दो मे सत्य की महिमा बखानी गई है। प्रश्न व्याकरण शास्त्र मे कहा है—

"जं सच्चं तं खु भगवं।" "अर्थात् सत्य ही भगवान् है।"

इसके पश्चात् सत्य का महत्व दिखलाते हुए कहा है—सत्य ही लोक मे सारभूत वस्तु है। वह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है, मेरु पर्वत से भी अधिक स्थिर है। चन्द्र मण्डल से भी अधिक सौम्य है। सूर्य मण्डल से मी अधिक तेजस्वी है। शरत्कालीन आकाश से भी अविक निर्मल है और गन्धमादन पर्वत से भी अधिक सौरभवान है।

६. संयम—मनोवृत्तियो पर, हृदय में उत्पन्न होने वाली कामनाओं पर' इन्द्रियो पर, अकुश रखना सयम है।

पाश्चात्य विचारधारा से प्रेरित कई भारतीय जन भी आज लालसाओ की तृप्ति मे जीवन का उत्कर्ष समझ बैठे हैं। इच्छाओ का दमन करना वे पौरुष-हीनता का चिन्ह मानते हैं। मगर इस भ्रान्त धारणा का परिणाम हमारे सामने है। मानव जाति की आवश्यकताए दिनोदिन बढती जा रही है, और मनुष्य उनकी पूर्ति की मृगतृष्णा मे परेशान हो रहा है। निरंकुश कामनाओ की बदौलत ही ससार नाना प्रकार के सघर्षो का अखाडा बन रहा है। कोई नही जानता कि मनुष्य की कामना किस केन्द्र पर जा थमेगी और कब मनुष्य की परेशानियों और सघर्षो की इतिश्री होगी ? यह जानना सम्भव भी नही है। क्यो—

"इच्छा हु आगास समा अणंतिया।"

जैसे आकाश अनन्त है, उसी प्रकार इच्छाएं भी अनन्त हैं। एक इच्छा की पूर्ति होने से पहले ही अनेक नवीन इच्छाओ का प्रादुर्भाव हो जाता है।

स्पष्ट है कि मन और इन्द्रियो को सयत किए विना और लालसाओ को काबू में किए विना, न व्यक्ति के जीवन मे तुष्टि आ सकती है, और न समाज, राष्ट्र या विश्व मे ही शान्ति स्थापित हो सकती है। अतएव जैसे आध्यात्मिक उन्नति के लिए सयम की आवश्यकता है, उसी प्रकार लौकिक समस्याओ को सुलझाने के लिए भी वह अनिवार्य है। भगवान् महावीर हमारा पथ प्रदर्शन करते हुए कहते हैं—

"कामे कमाही, कमियं खु दुक्खं।"

अर्थात्—अगर तुमने कामनाओ को लांघ लिया, तो दुखो को भी लांघ लिया।

७. तप—जैनधर्म मे तप को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। तपस्या के द्वारा समस्त कार्य सिद्ध होते है, तप असाधारण मगल है। भगवान् महावीर ने अपने समय मे प्रचलित तपस्या के सकीर्ण रूप को विशालता प्रदान की है, उस समय मे धूनी तपना, काटो पर लेटना, गर्मी के दिनो मे धूप में खडा हो जाना, शीत मे जलाशय मे प्रवेश करना आदि कायक्लेश ही प्रायः तप समझा जाता था। पर जैन-दृष्टि सकुचित और बहिर्मुखी नही है। उनके अनुसार आत्मा के गुणो का पोषण करने वाला तप ही वास्तविक तप है। इस कारण जैनशास्त्रो मे तप के दो विभाग कर दिए गए है—बाह्य और आभ्यन्तर। उपवास करना, कम खाना, अमुक रस अथवा अमुक वस्तु का त्याग कर देना आदि बाह्य तप हैं, और अपनी भूलो एव अपने अपराधो के लिए प्रायश्चित करना,

गुरुजनों का विनय करना, सेवा करना, स्वाध्याय करना और उत्सर्ग (त्याग) करना अन्तरंग तप है।

८. त्याग—अप्राप्त भोगों की इच्छा न करना और प्राप्त भोगों से विमुख हो जाना, त्याग है। जीवन में सच्चे त्याग का जब आविर्भाव होता है, तब मनुष्य कम से कम साधन-सामग्री में भी सन्तुष्ट एवं आनन्दमय रहता है। भोग-लोलुप व्यक्ति प्रचुर सामग्री पाकर भी सन्तोष का अनुभव नहीं कर सकता। व्यक्तियों के जीवन में त्याग-भाव जागृत करने से अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह नहीं किया जाता, परिणामतः दूसरे लोग उनसे वञ्चित नहीं होते, और विषमता फैलने से रुकती है।

९. आकिंचनता—किसी भी वस्तु पर ममत्व न होना, किसी भी पदार्थ को अपना न समझना, और फूटी कौडी भी अपने अधिकार में न रखना अकिंचनता है। ममत्व समस्त दुःखों का मूल है। जब पर-पदार्थ को अपना माना जाता है तो उसके विनाश या वियोग से दुःख होता है। जो किसी भी पदार्थ को अपना नहीं मानता, उसे दुख ही क्या? दुःख का मूल ममता और सुख का मूल समता है।

१०. ब्रह्मचर्य—सब प्रकार के विषयविकार से दूर रहकर ब्रह्म अर्थात् आत्मा में विहार करना ब्रह्मचर्य है। व्रतों के प्रकरण में इसका विचार किया जा चुका है।

इन दश धर्मों का पालन करना मुनियों के लिए परमावश्यक है। श्रावकों को भी अपनी शक्ति के अनुसार पालन करना चाहिए। व्यक्ति और समष्टि की शक्ति के लिए यह धर्म कितने आवश्यक हैं, यह बात इन पर विचार करने से सहज समझी जाती है।[1]

निर्ग्रन्थों के प्रकार

आत्मा अनादिकाल से विकारग्रस्त चला आ रहा है। दीर्घकालीन संस्कारों से ऊपर उठना भी कठिन होता है, अनादि कालीन संस्कारों से सर्वथा ऊपर उठ जाना कितना कठिन है, यह कल्पना कर लेना सरल है। प्रयत्न करते-करते और निरन्तर सावधान रहते-रहते भी भूतकालीन संस्कार कभी-कभी उभर

---

१ मनुस्मृति और विष्णुपुराण में भी यति धर्म के दश भेदों के नाम से इनका वर्णन किया गया है। यति शब्द से श्रमण धर्मों का ही बोध होता है।

आते है और इस कारण साधु जीवन की साधना मे तरतमता होना अनिवार्य है। इस तारतम्य को लेकर जैनशास्त्रो मे निर्ग्रन्थ श्रमणो का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। उनमें से यहा श्रमणो के पाच भेदो का उल्लेख कर देना उचित प्रतीत होता है। ये पाच[1] प्रकार के श्रमण-निर्ग्रन्थ यह है---

१ **पुलाकनिर्ग्रन्थ**---गेहू की फसल काट कर उसका ढेर किया जाता है, तो उसमे दाने कम और इतर भाग अधिक होता है, उसी प्रकार जिस निर्ग्रन्थ मे गुणो की अपेक्षा दोषो की मात्रा अधिक विद्यमान है, वह पुलाक कहलाता है।

२ **बकुशनिर्ग्रन्थ**---गेहू की कटी हुई पुआल को अलग कर दिया जाय, और बाले-बाले अलग छाट ली जाये, तो घास अपेक्षाकृत थोड़ा रह जाता है, फिर भी दानो से अधिक ही होता है। इसी प्रकार जिस निर्ग्रन्थ मे पुलाक की अपेक्षा अधिक गुण है। फिर भी दोषों की अपेक्षा गुणो की मात्रा अधिक नही बढ सकी, वह बकुशनिर्ग्रन्थ कहलाता है।

३ **कुशीलनिर्ग्रन्थ**---कषायकुशील निर्ग्रन्थो मे दो श्रेणिया होती है कषाय कुशील और प्रतिसेवना कुशील। कषायकुशील निर्ग्रन्थ सयम पालता है, ज्ञानाभ्यास करता है और यथाशक्ति तपस्या करता है, फिर भी उसके अन्त करण मे कषाय उमड आता है। कषाय को दबाने का प्रयत्न करने पर भी वह पूरा सफल नही होता। वह कटुक वचन और निन्दा सुनकर क्रुद्ध हो जाता है। आत्म प्रशसा सुनकर अभिमान करता है और शिष्य तथा सूत्र के लोभ से छुटकारा नही पाता।

प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ---प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ ज्ञान की सम्यक् प्रकार से आराधना नही करता, दर्शन का विराधक होता है और चारित्र का तथा लिंग की विराधकता का भी उसमे दोष हो सकता है, और वह तपादि का नियाणा भी कर लेता है इसी लिए उसे प्रतिसेवना कुशील कहते है।

५ **निर्ग्रन्थ**---निर्ग्रन्थ जो अपनी साधना के अन्तिम शिखर पर पहुचने ही वाले है, जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बनने ही वाले है, वे साधु निर्ग्रन्थ कहलाते है।

---

१. पंच णियंठा पण्णत्ता--पुलाए, बउसे, कुसले, णियंठे सिणाए,
भगवती श० २५, उ० ६।

५. स्नातकनिर्ग्रन्थ—जिनकी साधना फलित हो चुकी है, जो समस्त आत्मिक विकारो को नष्ट करके वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो चुके है, जिन्हे जीवन्मुक्त दशा प्राप्त हो चुकी है, वे अरिहन्त स्नातकनिर्ग्रन्थ कहलाते है।

आवश्यक क्रिया

चाहे अणुव्रती साधक हो, चाहे महाव्रती, उसे अपनी साधना को अग्रसर करने के लिए नित्य नयी स्फूर्ति, और प्रेरणा मिलनी चाहिए। इससे साधना पीछे न हट कर आगे बढती जाती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जैनशास्त्रो मे कुछ नित्यकृत्यो का विधान है। जिन्हे श्रावक और साधु दोनो करते है। वह नित्यकृत्य छह है। वह इतने आवश्यक माने गये है कि जैनशास्त्रो मे उन्हे आवश्यक नाम से ही अभिहित किया गया है। उनका दिग्दर्शन यो है—

१ सामायिक—[1] राग-द्वेषमय विचारो से चित्तवृत्ति को पृथक् करके मध्यस्थ भाव मे रहना सामायिक है। समस्त पापमय क्रियाओ का त्याग करके दो घडी पर्यन्त समभाव के सरोवर मे अवगाहन करना श्रावक की सामायिक क्रिया है। साधु की सामायिक जीवन पर्यन्त रहती है। क्योकि साधु सदैव समभाव मे रमण करते है।

२ स्तवन—तीर्थंकरो के गुणो का कीर्तन करना। तीर्थंकर देव आदर्श महापुरुष है। जिन्होने आत्मशुद्धि का चरम रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है। उनके गुणो के कीर्तन से, कीर्तन करने वाले को अपने निज के स्वाभाविक गुणो का परिचय एव स्मरण होता है। उन गुणो को प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है और दृष्टि निर्मल होती है।

३ वन्दना—पूजनीय पुरुषो के प्रति मन, वचन, काय के द्वारा आदर प्रकट करना वन्दना है। पाच परमेष्ठी पूजनीय है।

४. प्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ है—पीछे फिरना, लौटना। तात्पर्य यह है कि प्रमाद के कारण शुभ सकल्प से विचलित होकर अशुभ सकल्प मे चले जाने पर पुन शुभ सकल्प की ओर आना प्रतिक्रमण कहलाता है। इस आवश्यक क्रिया मे अगीकार किए हुए व्रतो मे त्रुटिया, भूले हो गई हो, उनका चिन्तन करके पश्चात्ताप किया जाता है।

---

१ आवश्यक सूत्र।

साधु और श्रावक के व्रत पृथक्-पृथक् है, अतएव दोनो का प्रतिक्रमण भी भिन्न-भिन्न है।

प्रतिक्रमण के पाच भेद है—

१ दैवसिक, २ रात्रिक, ३. पाक्षिक, ४ चतुर्मासिक और ५. सावत्सरिक।

दिन भर मे हुए दोषो का सध्यासमय चिन्तन करना (प्रतिक्रमण करना) दैवसिक और रात्रि सबधी दोषो का प्रात.काल चिन्तन करना रात्रिक प्रतिक्रमण कहलाता है। पन्द्रह दिन के दोषो का चिन्तन करना पाक्षिक, चार मास के दोषो का चिन्तन करना चातुर्मासिक और वर्ष भर के दोषो का प्रतिक्रमण करना, सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण प्रतिदिन सन्ध्या और प्रात समय किए जाते है। पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा और अमावस्या के दिन सध्यासमय, चातुर्मासिक आषाढी, कार्तिकी और फाल्गुनी पूर्णिमा को तथा सावत्सरिक प्रतिक्रमण भाद्रपद मास मे पर्यूषण पर्व के अन्तिम दिन किया जाता है।

५ **कायोत्सर्ग**—शरीर सम्बन्धी ममत्व को हटाने का अभ्यास करना कायोत्सर्ग आवश्यक है। इससे देहाध्यास हटता है, और समभाव का विकास होता है।

६ **प्रत्याख्यान**—इच्छाओ का निरोध करने के लिए प्रत्याख्यान (त्याग) किया जाता है। आहार, वस्त्र, धन आदि बाह्य पदार्थो का त्याग करना, द्रव्य-प्रत्याख्यान और राग-द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि का त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है।

साधना की कठोरता

जैन श्रमण की आचार-पद्धति ससार मे मुक्तिसाधना की कठोरतम प्रणाली है। केशलुचन, भूमिशैय्या, पैदल विहार, अनियत वास अर्थात वर्षाकाल को छोड कर ग्राम नगर मे एक मास अथवा सात दिन से अधिक न ठहरना, फूटी कौडी भी पास में न रखना, साथ ही इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने के लिए सतत जागृत रहना, अन्तःकरण मे कलुषता न आने देना, भूख-प्यास-सर्दी-गर्मी डास-मच्छर का दशन आदि के कष्टो को धैर्य के साथ सहन करना, हमेशा हरेक वस्तु याचन करके ही ग्रहण करना, आहार-पानी का लाभ न होने पर

विषाद न करके उसे तपस्या का लाभ मान लेना आदि ऐसी चर्या है, जिसके लिए जीवन को एक खास तरह के साचे मे ढालने की आवश्यकता होती है।

साधना का आधार

इनमे पहले साधु-जीवन की चर्या का जो उल्लेख किया गया है, उससे पाठक को यह ख्याल अवश्य आ जाएगा कि जैन-साधु वैराग्य और त्याग की साक्षात् प्रतिमा होता है। उस के त्याग-वैराग्य का आधार क्या है ? यह प्रश्न खडा हो सकता है। इस का उत्तर शास्त्रो मे दिया गया है।

वास्तव मे इस उग्र साधना का उद्देश्य आत्म-शुद्धि है। आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, असीम आनन्द और विराट् चेतना का धनी होकर भी कर्म उपाधि के कारण सासारिक दु:ख का भाजन बन रहा है। कर्म की उपाधि इस साधना के बिना नष्ट नही हो सकती। इसी कारण साधु इस साधना को स्वेच्छापूर्वक अगीकार करता है।

वैराग्य की क्षणिक तरग मे बह कर साधु बन जाने से काम नही चलता। ऐसा करने वाला व्यक्ति न इधर का और न उधर का ही रहता है, ऐसे अस्थिर-चित्त लोगो को सावधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—"तू जिस श्रद्धा के साथ घर छोडकर निकला है, जीवन के अन्तिम श्वास तक उसी श्रद्धा का निर्वाह कर।"

जिस श्रद्धा और विरक्ति से प्रेरित होकर मनुष्य श्रमणत्व अगीकार करता है, जीवन-पर्यन्त उसको स्थायी बनाए रखना साधारण बात नही। उसके लिए श्रमण को क्षण भर का भी प्रमाद न करके निरन्तर जागृत रहना पडता है। भगवान् महावीर ने कहा है—

> **सुत्ता अमुणी,**
> **मुणिणो सया जागरंति,** आचाराग।

"जो प्रमाद मे पड जाता है, वह मुनित्व से च्युत हो जाता है, अतएव मुनिजन सदैव जागते रहते है।" सतत जागृति को बनाए रखने के लिए जैन-शास्त्रो मे साधुओ के लिए विविध उपायो का निर्देश किया गया है। जिनका विस्तार-भय से यहा उल्लेख नही किया जा रहा है।

मृत्युकला (संलेखनाव्रत)

जैनदृष्टि के अनुसार धर्म एक कला है और धर्मकला का स्थान समस्त कलाओं में सर्वोपरि है। "सव्वा कला धम्मकला जिणई" अर्थात् धर्मकला सब कला को जीतती है। धर्मकला जैसे सर्वोच्च है, उसी प्रकार सर्वव्यापक भी है। जैसे जीवन के प्रत्येक व्यापार मे वह ओत-प्रोत रहनी चाहिए, उसी प्रकार मृत्यु में भी जगत् के सभी धर्मोपदेष्टाओ और नीतिप्रणेताओ ने जीवन की कला का रूप मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मगर मृत्यु जो जीवन का ही दूसरा पहलू या अनिवार्य परिणाम है—की कला का सुन्दर निदर्शन भगवान् महावीर ने कराया है, जैसा अन्यत्र कही देखने को नही मिलता है।

मृत्यु की कल्पना भी अत्यन्त भयावह है। सभवत संसार में अधिक से अधिक भयकर कोई वस्तु है, तो वह मौत ही है। पर भगवान् महावीर जैसे अनूठे कलाकार ने उसे भी उत्कृष्ट कला का रूप प्रदान किया है। उस कला की साधना में सफलता प्राप्त कर लेने वाला साधक ही अपनी साधना मे उत्तीर्ण समझा जाता है। जीवन कला की साधना के पश्चात् भी मृत्युकला की साधना मे जो असफल हो जाता है, वह सिद्धि से वचित ही रह जाता है।

भगवान् महावीर ने कहा है—"मृत्यु से भयभीत होना अज्ञान का फल है। मृत्यु कोई विकराल दैत्य नही है। मृत्यु मनुष्य का मित्र है और उसे जीवन भर की कठिन साधना को सत्फल की ओर ले जाती है। मृत्यु सहायक न बने तो मनुष्य ऐहिक धर्मानुष्ठान का पारलौकिक फल-स्वर्ग और मोक्ष—कैसे प्राप्त कर सकता है?"

कारागार से मनुष्य को मुक्त करने वाला उपकारक होता है। तो इस शरीर के कारागार से छुड़ा देने वाली मृत्यु को क्यो न उपकारक माना जाय।

इस कृमिकुल से सकुल एव जर्जर देह रूपी पिजडे से निकालकर दिव्य देह प्रदान करने वाली मृत्यु से अधिक उपकारक और कौन हो सकता है?

वस्तुत. मृत्यु कोई कष्टकर व्यापार नही वरन् टूटी-फूटी झोपडी को छोड़कर नवीन मकान मे निवास करने के समान एक आनन्दप्रद व्यापार है। किन्तु अज्ञान जनित ममता इस नफे के व्यापार को घाटे का व्यापार बना देता है, और अज्ञानी जीव को अपने परिवार और भोगसाधनो के विछोह की कल्पना करके मृत्यु के समय हाय-हाय करता है, तड़पता है, छटपटाता है और

आकुल-व्याकुल हो जाता है, परन्तु तत्त्वदर्शी पुरुष अनासक्त होने के कारण स्वस्वभाव में स्थिर रहता है और जीवन भर की साधना के मन्दिर पर स्वर्ण-कलश चढ़ा लेता है। वह परम शान्त एवं निराकुल भाव से अपनी जीवन यात्रा पूर्ण करता है, और इस प्रकार अपने वर्तमान को ही नही, भविष्य को भी मगलमय बना लेता है। सयम और धर्म मर्यादाओ में आबद्ध जीवन ही सर्वोत्कृष्ट जीवन है। श्रमणधर्म की कठोर साधना से जीवन की उद्दाम और उच्छृंखल वृत्तियो का नियन्त्रित करना सयमी पुरुष के लिए आवश्यक है। जैन धर्म जीवन से पलायनवादी नीति पर विश्वास नहीं रखता, अपितु सयम और सतोष, स्वाध्याय और तप विवेक और वैराग्य द्वारा इसी जीवन मे आध्यात्मिक शक्तियो का विकास सर्वजगद पा लेना ही, वह ध्येय सिद्धि मानता है। जैनधर्म कहता कि "जब तक जीओ, विवेक और आनन्द से जीओ, ध्यान और समाधि की तन्मयता मे जीओ, अहिसा और सत्य के प्रसार के लिए जीओ, और जब मृत्यु आवे तो आत्म-साधना की पूर्णता के लिए, पुनर्जन्म मे अपने आध्यात्मिक लक्ष्यसिद्धि के लिए अथवा मोक्ष के लिए, मत्यु का भी, समाधिपूर्वक वरण करो। मृत्यु के आने से मन की एकाग्रता, ध्यान तन्मयता तथा तदाकारता का आनन्द लो। किन्तु जगत् मे जीवन को ऐच्छिक इष्ट, प्रिय और सुखद समझा गया है, और मृत्यु को अप्रिय, भयावह, तथा अनिष्टकारक माना गया हे। यही कारण है कि मृत्यु के समय साधक यदि मोह का त्याग न कर पाया तो जीवन की साधना पर कालिख पुत जाती है और दोनो जन्म वर्बाद हो जाते है। भगवान् ने मृत्यु विज्ञान के विशद विवेचन मे मृत्यु के भी १७ प्रकार बताये है —

१ आवीचिमरण — क्षण-क्षण मे आयुक्षय होती है, यह क्षण-क्षण का मरण है, मृत्यु।

२ तद् भवमरण — शरीर का अन्त, देहान्त हो जाना।

३ अवधि मरण — आयुपूर्ण होने पर मृत्यु का होना।

४. आद्यन्तमरण — दोनो भवो मे एक ही प्रकार की मत्यु का होना।

५ वालमरण — ज्ञानदर्शन हीन होकर विष-भक्षण आदि से मरना।

६ पण्डित मरण — समाधि भाव के साथ देह त्याग करना।

७. आसन्न मरण — सयम पुष्ट होकर मरना।

८. वालपण्डित मरण — श्रावकपने मे मरण अर्थात् अणुव्रत ही धारण कर मरना।

९. सशल्य मरण	–	परलोक की सुखाशा के साथ या मन मे कपट लेकर मरना।
१०. प्रमाद मरण	–	सकल्प विकल्प से मुक्त होकर जीवन त्याग करना।
११. वशात् मत्यु	–	इन्द्रियाधीन अथवा कषायाधीन होकर मरना
१२. विपुल मरण	–	सयमशील व्रत आदि पालन मे असमर्थता देख अपघात करना।
१३. गृद्धपृष्ठ मरण	–	युद्ध के मैदान मे लडते हुए मरना।
१४. भक्तपान मरण	–	विधिपूर्वक त्याग करके मरना।
१५. इगित मरण	–	समाधिपूर्वक मरण।
१६. पादोप गमन मरण	–	आहार आदि त्याग कर वृक्ष के समाननिश्चल। भाव से मरना।
१७. केवलि मरण	–	केवल ज्ञान हो जाने के बाद निर्वाण प्राप्ति।

इन मृत्यु के भेदो मे बालपण्डित मरण, पण्डित मरण तथा अन्तिम शेष के चार मरण, जैनधर्मानुकूल मरण है। जैनधर्म ने मृत्यु के समय समाधि मरण के निमित्त अभ्यस्त हो जाने के लिए सथारा, सल्लेखना, तथा सस्तारक-विस्तार पर सोने के समय रात्रि को भी सागारी सथारा करने का विधान किया है। प्रति-रात्रि इस प्रकार सथारा करने से समाधि मरण की कला का ज्ञान भी हो जाता है, और अकस्मात् सोते-सोते ही मत्यु हो जाये तो जगत् के मोह की पाप क्रिया भी नही लगती। इस सथारे मे अन्तर इतना ही होता है कि यह सागारी सथारा कहलाता है, अर्थात् सोकर उठने पर, अथवा रोग शान्त हो जाने पर, कष्ट निकल जाने पर यह नियम समाप्त किया जा सकता है। क्योकि सथारे की मर्यादा लेने पर व्यक्ति का जगत् की अथवा अपनी ही किसी भी उपाधि पर अधिकार नही रहता। मृत्यु कला मे शिक्षा भी यही दी जाती है जिससे मरने के समय साधक ममत्व का पूर्णत त्याग कर सके। इसी लिए सभी प्रकार की मृत्यु मे से समाधि मरण को ही श्रेष्ठ माना गया है।

यह विवेकयुक्त समाधिमरण, पण्डितमरण और सकाममरण भी कहलाता है। प्राणान्तकारी सकट, दुर्भिक्ष, जरा अथवा असाध्य रोग होने पर, जब जीवन का रहना संभव न प्रतीत हो, समाधि मरण अगीकार किया जाता है। जैनशास्त्रो मे समाधि मरण का विस्तृत वर्णन है। इसे मृत्युमहोत्सव की भाव पूर्ण सज्ञा दी गई है और अनेक प्रकार के भेद-प्रभेद करके इसका विशद वर्णन किया गया है।

समाधिमरण अंगीकार करने वाला महासाधक सब प्रकार की मोह-ममता को दूर करके शुद्ध आत्मस्वरूप के चिन्तन मे लीन होकर समय यापन करता है। उसे पाच दोषो से बचने के लिए सतर्क किया गया है —[1]

१. इहलोकाशंसा — ऐहिक सुखो की कामना करना।
२. परलोकाशंसा — पारलौकिक सुखो की कामना करना।
३. जीविताशंसा — समाधिमरण के समय पूजा-प्रतिष्ठा होती देख कर अधिक समय तक जीवित रहने की इच्छा करना।
४. मरणाशंसा — भूख, प्यास या रोगजनित व्याधि से कातर होकर जल्दी मरने की इच्छा करना।
५. कामभोगाशंसा — इन्द्रियो के भोगो की आकाक्षा करना।

समाधिमरण लेने वाले महात्मा को इन पाँच दोषो से बचना चाहिए, और पूर्ण समभाव मे स्थित होकर समाधिमरण के परमानन्द को कलुषित नही करना चाहिए।

भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट मृत्युकला का यह संक्षिप्त दिग्दर्शन है। इस कला की उपासना श्रावक और साधु दोनो को करनी चाहिए।



१ उपासकदशाक-सूत्र, अ० १, भगवती, शतक १३, उ० ८ पा० ३०।

जम्बूद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवतियं काल तित्थे अणुसज्जिस्सति ?

गोयमा ! जम्बुद्दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एगवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसिज्जस्सति ।

—भगवती, श० २, उ० ८ ।

"हे भंते ! अरिहन भगवन द्वारा प्रवर्त्तित यह धर्म-तीर्थ इस अवसर्पिणी काल में जम्बूद्वीप के भारत देश मे कब तक चलेगा ?"

"हे गौतम ! मेरा धर्म तीर्थ इसी अवसर्पिणी काल मे जम्बूद्वीप के भारत देश मे २१ हजार वर्ष तक चलेगा ।"

जैन-धर्म की परम्परा

जैन धर्म की परम्परा

भारत के आध्यात्मिक निर्माण मे जैनाचार्यों का योगदान

भारत के सांस्कृतिक निर्माण में जैनाचार्यों की कितनी महत्त्वपूर्ण देन है, इस संबंध मे अब तक कोई व्यवस्थित विचार नही किया गया है। किन्तु असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों ने अपने उच्च कोटि के त्यागमय और संयमपूर्ण जीवन और उपदेशो से भारत की संस्कृति को बहुत प्रभावित किया है। उनकी देन अनूठी है। जब हम पूर्व, दक्षिण और उत्तर के अन्तर्मानस का साक्षात्कार करना चाहेगे, तो हमे चलचित्र की भाँति जैनाचार्यों की भव्य झाँकियाँ दृष्टिगोचर होंगी, जिनका प्रभाव आज तक भारत की कला और जन-जन के मानस पर अक्षुण्ण एवं व्यापक रूप से पड़ा है।

भगवान् महावीर से १७० वर्ष बाद उत्पन्न होने वाले महान् आचार्य भद्रबाहु को कौन भुला सकता है, जिन्होने अपने योगबल से भविष्य को जानकर मगध की जनता और सम्राट् चन्द्रगुप्त को द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष का संकेत किया था। उन्ही के उपदेशो का फल था कि सम्राट् चन्द्रगुप्त उनके साथ दक्षिणयात्रा मे गया, भिक्षु बना, और अन्त मे जैनविधि के अनुसार समाधिमरण करके कृतकृत्य हो गया।

आचार्य भद्रबाहु के दक्षिण प्रवास के परिणाम बडे दूरगामी, स्थायी प्रभाव

वाले, और अनोखे सिद्ध हुए। इस प्रवास के फलस्वरूप मगध का जैन संघ दो भागों में बँट गया। इसका दुष्परिणाम दिगम्बर-श्वेताम्बर के सम्प्रदाय भेद के रूप में प्रकट हुआ, मगर दूसरा महत्त्वपूर्ण सुफल यह हुआ कि उन्होंने दक्षिण के (कलभ्र, होयसेल, गंग आदि) के राजवंशों पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जैनधर्म और अहिंसा का जो प्रभाव छोड़ा, वह आर्यों और द्रविड़ों की एकता का कारण बना। महान् श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु पूर्व और उत्तर के मधुर सम्मिलन की प्रथम कड़ी थे।

आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती के शिष्य गुणसुन्दर ने सम्राट् सम्प्रति की सहायता से भारत के विभिन्न प्रान्तों के अतिरिक्त अफगानिस्तान, यूनान और ईरान आदि एशिया के समस्त राष्ट्रों में जैन धर्म का व्यापक प्रचार किया।

सूत्रयुग के प्रतिष्ठापक उमास्वाति, भारत के महान् दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ने जैन तर्कशास्त्र को व्यवस्थित रूप प्रदान किया और आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिक ग्रंथों की रचना करके और स्वामी सामन्तभद्र ने तर्कशास्त्र की प्रतिष्ठा करके जैन साहित्य को समृद्ध बनाया।

जब हम विक्रम की पहली सहस्राब्दी पर दृष्टि दौड़ाते हैं, तो सहसा हमें अनेकों विभूतियाँ दिखाई देती हैं, जिन्होंने साहित्य के विविध अंगों को पुष्ट करने में सराहनीय प्रयत्न किया है। देवर्धिगणीक्षमाश्रमण, जिनभद्रगणीक्षमाश्रमण अभयदेव, हरिभद्र, शीलांक, धनेश्वर सूरि, कालिकाचार्य, जिनदास महत्तर आदि और दूसरी सहस्राब्दी के कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य, वादी देव सूरी, यशोविजय आदि वे आचार्य हैं, जिन्होंने धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा आध्यात्मिक विचारों से देश को सम्पन्न बनाया है। दूसरी तरफ आचार्य गणधर, भूतबली, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद, पात्रकेसरी, अकलंक, विद्यानन्दी, सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र जिनसेन, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र आदि भी हैं जिन्होंने दक्षिण और उत्तर को अपनी प्रतिभा से प्रभावित किया है।

भारत के निर्माण में जैनाचार्यों का योगदान यद्यपि मुख्यतया आध्यात्मिक रहा है, तथापि गुजरात का साम्राज्य कुमारपाल को अहिंसा की दीक्षा, तथा दक्षिण में विजय नगर की राज्य-व्यवस्था में अहिंसा की प्रतिष्ठा तथा विहार और मथुरा प्रदेशों में, अहिंसक वातावरण उत्पन्न करने में भी इन्हीं आचार्यों का योग रहा है।

जब तक भारतवर्ष में अहिंसा और भूतदया, निरामिष भोजन, दुर्व्यसनों के प्रति घृणा, मद्यपान एवं चारित्रिक निर्बलताओं के विरुद्ध जो सामूहिक भावना दिखाई देती है उसके पीछे जैनाचार्यों का प्रबल हाथ रहा है।

जैनाचार्यों ने तथा जैन साधुओं ने अहिंसा, तप, त्याग की कसौटी पर जो उज्ज्वल स्वरूप विश्व के सामने रखा है, वह आज भी भारत के लिए गौरव की वस्तु है।

सौराष्ट्र मे अहिंसक भावना को जो उल्लेखनीय प्रश्रय मिला है, वह जैनाचार्यों की ही देन है। उसका फल अनेक रूपो मे हमारे सामने आया। स्वामी दयानन्द ने वेदो का जो अहिंसापरक अर्थ किया और महात्मा गाधी ने जो अहिंसा-नीति अपनाई, उसके पीछे सौराष्ट्र का अहिंसामय वातावरण ही कारण है। गाधी जी को तो जैन सन्त बेचर स्वामी ने विलायत जाने से पूर्व मद्य, मास और परस्त्री-गमन का त्याग करवाया था। कवि राजचद भाई ने उन्हे पूर्ण अहिंसक बना दिया।

आज ससार अहिंसा की ओर बढने की सोच रहा है। यह प्रसन्नता की बात है। किन्तु जैन सघ ने हिंसा से भरी विगत शताब्दियो मे अहिंसा की जो दिव्य ज्योति जलाए रखी वह उसकी भारत को, विश्व को और समस्त मानवता को सब से बडी देन है।

राजाओं का योगदान

भारतीय इतिहास का गहरा आलोडन करने वाले कुछ विद्वानो का मत है कि ब्रह्मविद्या या आध्यात्मिक ज्ञान क्षत्रियो मे प्रारभ होकर ब्राह्मणो के पास पहुँचा। जैन इतिहास इस अभिमत की पुष्टि करता है। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौवीसो तीर्थकरो का जन्म राजवशो मे ही हुआ था। प्रत्येक तीर्थकर के काल मे अनेकानेक जैन राजा भी हुए। चक्रवर्ती भी हुए, जिन्होने जैनेन्द्रीय दीक्षा धारण की, और जैनधर्म के प्रचार और प्रसार मे योग दान दिया। उन सब का इतिहास आज उपलब्ध नही। तथापि भ० महावीर के समसामयिक और उनके पश्चाद्वर्ती कुछ राजाओ का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा, जिन्होने जैन धर्म की प्रभाव-वृद्धि मे योग देकर अपने को धन्य बनाया है।

चेटक तथा अन्य राजा—राजा चेटक भगवान् के प्रथम श्रमणोपासक थे। वैशाली के अत्यन्त प्रभावशाली और वीर राजा थे। वह अठारह देशो के गणराज्य के अध्यक्ष थे। उन्होने प्रतिज्ञा की थी कि—मै अपनी कन्याएँ जैन के सिवाय किसी अन्य को नही दूंगा। नीति की प्रतिष्ठा और शरणागत की रक्षा के लिए चेटक को एक बार मगधराज कूणिक के साथ भीषण सग्राम करना पडा था।

सिन्धु सौवीर के उदयन, अवती के प्रद्योत, कौशाम्बी के शतानीक

चम्पा के दधिवाहन, और मगध के श्रेणिक राजा, चेटक के दामाद थे। यह सभी राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। राजा उदयन ने तो भगवान् के निकट दीक्षा ग्रहण की थी।

श्रेणिक और कूणिक—इतिहासप्रसिद्ध मगधाधिपति बिम्बसार, जैन साहित्य मे श्रेणिक नाम से भी प्रसिद्ध है। उनकी गाथाएँ जैन साहित्य मे प्रसिद्ध है। श्रेणिक के पुत्र सम्राट् कूणिक भी भगवान् के परम भक्त थे। कूणिक के पुत्र उदयन ने भी जैन धर्म की ही शरण गही थी।

काशी-कौशल के अठारह लिच्छवी, और मल्ली राजाओ ने भगवान् महावीर का निर्वाण महोत्सव मनाया था। इससे प्रतीत होता है कि यह सब राजा जैन धर्म से प्रभावित थे।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त—चन्द्रगुप्त जैनधर्म के अनुयायी थे। भद्रबाहु स्वामी के निकट, मुनि दीक्षा अगीकार करके मैसूर (दक्षिण) गये। श्रमण-बेलगोला की गुफा मे आत्मसाधना की। इनके मत्री चाणक्य भी जैनधर्मी थे और जैन श्रावक गणी के पुत्र थे।

सम्राट् अशोक—अशोक चन्द्रगुप्त के पौत्र थे। उन्होने अहिसा की जो सेवा की है, वह प्रसिद्ध है। "अर्ली फेथ आफ अशोक" नामक पुस्तक के अनुसार अशोक ने अहिसा विषयक जो नियम प्रचारित किये, वे बौद्धो की अपेक्षा जैनो के साथ अधिक मेल खाते थे। पशु-पक्षियो को न मारने, निरर्थक जगलो को न काटने, और विशिष्ट तिथियो एव पर्वदिनो मे जीवहिसा वद रखने आदि के आदेश जैन धर्म से मिलते है।

सम्राट् सम्प्रति—सम्प्रति अशोक के पौत्र थे। यह एक बार युद्ध मे विजय प्राप्त करके खुशी-खुशी माता के पास पहुँचे। देखा, माता के चेहरे पर प्रसन्नता के बदले, आँखो मे आँसू है। कारण पूछने पर माता ने बतलाया—नरसहार करके प्राप्त की गई विजय, सच्ची विजय नही। सच्ची शान्ति अहिसा के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इत्यादि उपदेश सुन कर सम्प्रति ने प्रख्यात जैन मुनि आर्य सुहस्ती से जैनधर्म अगीकार किया। सम्राट् सम्प्रति ने अनार्य देशो मे जैन धर्म के प्रचार के उद्देश्य से, जैनधर्माराधको के लिए धर्मस्थानो की व्यवस्था करवाई थी। अनार्य प्रजा के उत्थान के लिए सम्प्रति ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसने धर्मप्रचारक भेजकर जैनधर्म की शिक्षाएँ प्रसारित की। अनेक विद्वानों का

मत है कि आज जो शिलालेख अशोक के नाम से प्रसिद्ध है, संभव है वे सम्प्रति के लिखवाये हुए हों।

कलिंग चक्रवर्ती खारवेल—ईस्वी सन् से पूर्व दूसरी शताब्दी में महाराजा खारवेल हुए। इस युग की राजनीति में खारवेल सब से अधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। उनके समय में जैनधर्म का खूब उत्कर्ष हुआ। उनके प्रयास से जैन साधुओं तथा जैन विद्वानों का एक महासम्मेलन हुआ। जैन-संघ ने उन्हें महाविजयी खेमराजा तथा भिक्षुराजा और धर्मराजा की भी पदवी प्रदान की। जैनधर्म के प्रति की गई खारवेल की सेवाएँ बहुमूल्य हैं। वह अत्यन्त-प्रतापी राजा हुए हैं।

कलचूरी और कलभ्रवंशी राजा—कलचूरि राजवंश मध्यप्रान्त का सबसे बड़ा राजवंश था। आठवीं-नौवीं शताब्दी में उसका प्रबल प्रताप चमक रहा था। इस वंश के राजा जैनधर्म के कट्टर अनुयायी थे। त्रिपुरी इनकी राजधानी थी। प्रो० रामस्वामी आयंगर का कथन है कि इनके वंशज आज भी जैन कलार के नाम से नागपुर के आस-पास मौजूद हैं।

होयसेल वंशी राजा—होयसेल वंश के अनेक राजा, अमात्य और सेनापति जैनधर्म के अनुयायी थे। सुदत्त मुनि इस वंश के राजगुरु थे। पहले यह चालुक्यों के माण्डलिक थे, पर ४११६ में उन्होंने स्वतंत्र राज्य की प्रतिष्ठा की थी।

गंगवंशी राजा—ईसा की दूसरी सदी में गंग राजाओं ने दक्षिण प्रदेश में अपना राज्य स्थापित किया। ग्यारहवीं सदी तक वे विस्तृत भूखण्ड पर शासन करते रहे। यह सब राजा परम जैन थे। इस वंश के प्रथम राजा माधव थे, जिन्हें कोंगणी वर्मा भी कहते हैं। वह जैनाचार्य सिंहनन्दि के शिष्य थे। उनके समय में जैनधर्म, राजधर्म बन गया था। इसी वंश का दुर्विनीत राजा प्रसिद्ध वैयाकरण जैनाचार्य पूज्यपाद का शिष्य था। एक और राजा मारसिंह ने अनेक राजाओं पर विजय प्राप्त करके, ऐश्वर्यपूर्वक राज्य करके अन्त में भिक्षु का पद अंगीकार किया। जैनाचार्य अजितसेन के पादमूल में समाधिमरणपूर्वक आयु पूर्ण की। शिलालेख के आधार से उनकी मृत्यु ई० स० ९७५ में हुई।

इस वंश की महिलाएँ भी जिनेन्द्र देव की महान् उपासिकाएँ थीं। राजा मारसिंह द्वितीय के सुयोग्य मंत्री चामुण्डराय थे। मारसिंह के पुत्र राजमल्ल के वह प्रधानमंत्री, और सेनापति हुए। वह दृढ़ जैनधर्मानुयायी थे। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्र चामुण्डराय के धर्मगुरु थे। कनडी भाषा में लिखित "त्रिषष्ठिलक्षण" महापुराण उनकी प्रसिद्ध रचना है। इन्हीं चामुण्डराय ने श्रमण बेलगोला में,

सख्या बढती घटती रही है, किन्तु जैन धर्म की सरिता कभी सूखी नही, वह सदा से मानव-जाति को शान्ति का सदेश देती रही है। जनता पर और राजाओ पर जैन धर्म का बहुत बडा असर रहा है। भारत के बडे-बडे सम्राट् जैन धर्म के ध्वज की छाया मे आत्मनिरीक्षण का पाठ पढते रहे है। स्वय भगवान् महावीर के समय मे ही जैन धर्म मगध[1] का राज्य-धर्म था। तात्कालिक भारत के १६ प्रमुख राज्यो मे जैन धर्म बहुत तेजस्वी रहा था। भ० महावीर के मामा की पाँच पुत्रियो ने ही पाँच राजाओ को जैन धर्म की दीक्षा दी थी। यद्यपि महाराजा चेटक की सात पुत्रियाँ थी, किन्तु इनमे से दो तो ब्रह्मचारिणी ही रही थी। ऋमश इन पाँचो मे से प्रभावती ने सिन्धु सौवीर के सम्राट् उदयन को, शिवा ने अवन्तीपति चण्डप्रद्योत को, चेलणा ने मगधाधिपति श्रेणिक को, मृगावती ने वत्सपति शतानीक को और पद्मावती ने अगदेश के अधिपति दधिवाहन को जैन धर्म को ओर उन्मुख किया था। उस समय के राजाओ और राजकुमारो रानियो और राजकुमारियो पर श्रमण महावीर का इतना प्रभाव था कि कितने ही राजपुत्रो और राजपुत्रियो ने साधु धर्म की दीक्षा तक ग्रहण की थी। वह जैन धर्म का स्वर्ण युग था, चारो ओर जैन धर्म की भावना का स्वर गूँज रहा था। राज्याश्रय जैनधर्म को पूर्णतया प्राप्त था किन्तु जैन धर्म आचार का धर्म है। उसे राज्याश्रय या व्यक्ति के आश्रय की तडप नही है उस समय यदि राज्यस्तर पर विधान के नाते जैन धर्म प्रचारोन्मुख बनाया जाता तो अत्यधिक विस्तृत हो जाता।

किन्तु जैन धर्म लोकैषणा और लोक सग्रहप्रवृत्ति को धार्मिकता के लिए अनिवार्य शर्त नही मानता, फिर भी जैनधर्म का प्रचार बढा। सब मे पहली क्षति जैन धर्म को चेटक और कोणिक के वैशालि युद्ध मे हुई, उसमे जैन धर्म के मानने वाले १८ राजाओ का विनाश हो गया, चेटक की पराजय हुई, और कोणिक विजित होने पर भी जैनो का ग्लानि-पात्र बन गया और अत मे वह बौद्ध हो गया। फिर दो शताब्दी के बाद जैन धर्म का वर्चस्व गुप्तवश के राजत्व काल मे बढा। महाराजा अशोक के पौत्र सम्प्रति ने तो गुरु गुणसुन्दर की आज्ञा लेकर जैन धर्म को विश्व विस्तृत करने के लिए बहुत प्रयत्न किया पर सम्प्रति के पश्चात् जैन धर्म के प्रसार की परम्परा चल नही सकी। यही कारण है कि उस समय जैन धर्म ईरान, अफगानिस्तान और ग्रीस आदि समग्र देशो मे फैला। यही नही अपितु जैन धर्म ने ग्रीस के महान् चिन्तक पाइथेगोरस को "आर्हत" धर्म की दीक्षा दी। आज भी ससार मे

१ कंबोज, पाञ्चाल, कौशल, काशी, वत्स, श्रावस्ती, वैशाली, मगध, बग, कुशस्थल अग, धन कटक, आंध्र, कलिंग, अवंती, सिन्धुसौवीर।

पाइथेगोरियन लोगो की कमी नही। उनके सिद्धान्त, उनकी मान्यताए जैन धर्म से अनुप्राणित है। दिगम्बर पट्टावलियो मे तो पिहिताश्रव (पाइथेगोरस) नाम के सत का उल्लेख मिलता है।

भगवान् महावीर से २० वर्ष पूर्व पाइथेगोरस भारत मे आये थे, और उन्होने भगवान् पार्श्वनाथ के साधुओ से जैन-दीक्षा ग्रहण कर ग्रीस मे जैन धर्म का प्रचार किया था।

तत्व और सिद्धान्त की दृष्टि से जैन धर्म आज विश्व-व्यापी बनता जा रहा है क्योकि विश्व मे सामाजिक, सैद्धान्तिक, और राजनैतिक नेता-गण अहिसा को ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार करते है। आज युद्ध के विरुद्ध शान्ति-वादियो का मोर्चा भगवान् महावीर के उस कथन के अनुसार बन रहा है जिसमे उन्होने कहा था कि —

"मा हणो, मा हणो"

(मत हिंसा करो, मत हिंसा करो) का उपदेश देने की भी प्रेरणा दी थी।

जैनधर्म एक विचारधारा है जो सामाजिक नियमो व व्यावहारिक सम्बन्धो को परिवर्तन करना धर्म के लिये अनावश्यक समझता है।

जैन धर्म न तो किसी की भाषा परिवर्तित करना चाहता है, न किसी की विवाह-पद्धति मे हस्तक्षेप करना चाहता है, और न ही राज्य तथा भौतिक समृद्धि पर उसने कभी विश्वास किया है, वह तो मानवता के जागरण, विकारो के नियत्रण और आत्मदर्शन का सदेश विश्व मे फैलाना चाहता है।

ये सभी सम्राट्[1] स्वय शुद्धाचरणी थे, इनके शासनकाल मे निरपराध प्राणियो की हत्या बन्द रही है, लोग सुखी और समृद्धिशाली थे। सभी अपने-अपने नियत कार्यों को किया करते थे, एक को दूसरे के प्रति ईर्ष्या या द्वेष नही था, ऊँच-नीच के भेदो को पुण्य-पाप का फल समझते थे, इसी लिए पाप कर्म से हट कर, पुण्य कर्म करने का यथाशक्ति प्रयत्न करते थे। शासक कभी किसी के धर्म या सामाजिक नियम मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहा करते थे। प्रजा की रक्षा-व्यवस्था के लिए भूमि और चुङ्गी कर के अतिरिक्त कोई कर नही लेते थे, वह था "सुराज्य" जिसे लोग चाहते है। दक्षिण भारत मे गगवशीय आदि जैन धर्मानुयायी राजाओ ने सैकडो वर्ष तक निष्कटक राज्य किया है। चामुण्डराय आदि वीरो ने अपनी शक्ति का परिचय दिया है। आज भी मुडबिद्री मे राजवश के उत्तराधिकारी विद्यमान है।

---

१. प्रसिद्ध जैन सम्राटो की तालिका पृ० २३० पर देखिए।

भारतवर्ष के ऐतिहासिक क्षत्रिय जैन सम्राट् तथा भूपति

क्रम	नाम सम्राट	वंश	शासन-काल ईस्वी पूर्व	कुल वर्ष	राजधानी	विशेष विवरण
१	बिम्बसार	शिशुनाग	५४३—४९१	५२	राजग्रह	उपनाम श्रेणिक, भ० महावीर के मोसा।
२	अजातशत्रु	,,	४९१—४५९	३२	पाटलीपुत्र	उपनाम, कोणिक, बुद्ध के समकालीन।
३	उदयन	,,	४५९—४१३	४६	,,	सिकन्दर भारत में आया
४	महापद्म	,,	३२३—		,,	
५	चन्द्रगुप्त	मौर्य	३२२—२९८	२४	,,	सिल्यूकस भारत आया।
६.	बिन्दुमार	मौर्य	२९८—२७३	२५	,,	
७	अशोक	,,	२७३—२३२	४१	,,	भारत का महान् सम्राट् राज्य के केवल चार वर्ष जैन रहा फिर बौद्ध बन गया।
८	सम्प्रति	,,			,,	अशोक का पौत्र।
९	खारवेल	चेदी	१७७—१५२	२५	कलिंग	कलिंग विजय किया।
१०.	कनिष्क	,,	सन् ७८ ईस्वी		पेशावर	बौद्ध-मत में दो सम्प्रदाय हुए।
११	विक्रमादित्य	परमार	३७५		उज्जैन	चीनी यात्री फाहियान आया।
१२	हर्ष	परमार	६०६—६४७	४१	कन्नौज	चीनी यात्री ह्वेनसांग आया।
१३	अमोघवर्ष	राष्ट्रकूट	७५०		मलखेड	
१४	सहिल देवराग	तोमर	१०००—१०५०	५०	श्रावस्ती	सैयद सालार मसऊद को युद्ध में मारा।
१५	कुमारपाल	चालुक्य	११४२—११७३	३१	अणहिलपुर	
१६	हेमू (हेमराज)	पड़िहार	११५६—		दिल्ली	अकबर से पहली टक्कर लेनेवाला

"जत्ता ते भंते ! जवणिज्जं अव्वाबाहं फासुयविहारं ?"

"सोमिला ! जत्ता विमे, जवणिज्जं पि मे अव्वाबाहं पि मे फासुयविहारं पि मे ।'

—भगवती, श० १८, उ० १० ।

"हे भंते ! आपके धर्म मे यात्रा, यापनीय अव्याबाध और विहार है क्या ?"

"हे सोमिल, है ! तप, नियम, सयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि योगों मे हमारी यत्ना की प्रवृत्ति ही हमारी यात्रा है ।"

इन्द्रिय और कषायो को जीतना ही यापनीय है। वात, पित्त, कफ और सन्निपात रोगो की उपशान्ति और अशुभ कर्मो का उदय मे नही आना ही अव्याबाध है।

उद्यान, धर्मशाला, स्त्री-पशु रहित शुद्ध आसन ग्रहण करना ही हमारा प्रासुक विहार है।

"हे सोमिल ! सयम की प्राप्ति द्रव्य, नय और निक्षेप के ज्ञान-विज्ञान के बिना नही हो सकती ।"

यही धर्म की विशेषता है ।

जैन-धर्म की विशेषताएँ

जैन धर्म की विशेषताएँ

जैन धर्म की वैज्ञानिकता—पिछले प्रकरणो मे जैन धर्म की मान्यताएँ संक्षेप मे बतलाई जा चुकी है। ध्यानपूर्वक उन्हे पढने से जैन धर्म मे, अन्य धर्मो की अपेक्षा जो विशेषताएँ है, उनका आभास मिल सकता है। किन्तु उनकी ओर विशेष रूपसे ध्यान आकर्षित करने के लिए उनका पृथक् उल्लेख कर देना ही उचित होगा।

तत्त्व का ज्ञान तपस्या एव साधना पर निर्भर है। सत्य की उपलब्धि इतनी सरल नही है कि अनायास ही वह हाथ लग जाय। जो निष्ठावान् साधक जितनी अधिक तपस्या, और साधना करता है, उसे उतने ही गुह्य-तत्त्व की उपलब्धि होती है।

पूर्ववर्ती तीर्थंकरो की बात छोड दे और चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर के ही जीवन पर दृष्टिपात करे तो स्पष्ट विदित होगा कि उनकी तपस्या और साधना अनुपम और असाधारण थी। भ० महावीर साढे बारह वर्षो तक निरन्तर कठोर तपश्चर्या करते रहे। उस असाधारण तपश्चर्या का फल भी उन्हे असाधारण ही मिला। वे तत्वबोध की उस चरम सीमा का स्पर्श करने मे सफल हो सके, जिसे साधारण साधक प्राप्त नही कर पाते। वास्तव मे जैनधर्म के सिद्धान्तो मे पाई जाने वाली खूबियाँ ही उनका रहस्य है। जैन मान्यताएँ यदि वास्तविकता की

सुदृढ नींव पर अवस्थित और विज्ञानसम्मत हैं तो उनका रहस्य भगवान् महावीर का तपोजन्य परिपूर्ण तत्त्वज्ञान ही है।

सृष्टि रचना—उदाहरण के लिए सृष्टि रचना के ही प्रश्न को ले लीजिये, जो दार्शनिक जगत् मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आधारभूत है। विश्व मे कोई दर्शन या मत न होगा, जिसने इस गम्भीर प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास न किया हो। क्या प्राचीन, और क्या नवीन, सभी दर्शन इस प्रश्न पर अपना दृष्टिकोण प्रकट करते है। मगर वैज्ञानिक विकास के इस युग मे उनमे अधिकाश उत्तर कल्पना-मात्र प्रतीत होते है। इस सबध मे महात्मा बुद्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्होने बिना किसी सकोच या झिझक के स्पष्ट कह दिया कि लोक का प्रश्न अव्याकृत है—अनिर्णीत है। इसका आशय यही लिया जा सकता है कि लोक-व्यवस्था के सबध मे निर्णयात्मक रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता।

इस स्पष्टोक्ति के लिए गौतम बुद्ध धन्यवाद के पात्र है, मगर लोक के विषय मे हमारे अन्त करण मे जिज्ञासा सहज रूप से उदित होती है, उसकी तृप्ति इस उत्तर से नही हो पाती। और जब हम जिज्ञासा तृप्ति के लिए इस विषय के विभिन्न दर्शनो के उत्तर की ओर ध्यान देते है, तब भी निराशा का सामना करना पडता है।

सृष्टि रचना के विषय मे अनेक प्रश्न हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। प्रथम यह कि सृष्टि का विधिवत् निर्माण हुआ है या नही ? अगर निर्माण हुआ है, तो इसका निर्माता कौन है ? यदि निर्माण नही हुआ तो सृष्टि कहाँ से आई ? सृष्टि-निर्माण से पहले क्या स्थिति थी ?

इन प्रश्नो पर दार्शनिक कभी सहमत नही हो सके। एक कहता है—सृष्टि देव[1] के द्वारा उत्पन्न की गई है। तो दूसरा कहता है—"ब्रह्म या ब्रह्मा ने इसकी रचना की है।" किसी का मत है कि ईश्वर इसका निर्माता है, और किसी के मतानुसार प्रकृति से सृष्टि बनी है। कोई स्वयभू को सृष्टि का कर्त्ता कहते हैं। कोई अडे से उसकी उत्पत्ति बतलाते है। उनकी मान्यता के अनुसार यह चराचर विश्व, अडे से उत्पन्न हुआ है। जब ससार मे कोई भी वस्तु नही थी तब ब्रह्मा ने पानी मे एक अडा उत्पन्न किया। बढते-बढते वह बीच मे से फट गया। उसके दो भागो मे से एक से ऊर्ध्व-लोक की और दूसरे से अधोलोक की उत्पत्ति हुई।

---

१. सूत्र कृतांग अ० श्रु०, अ० १, उ० ३।

कोई स्वभाव से सृष्टि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं, कोई काल से, कोई नियति से और कोई यदृच्छा से।

सृष्टि से पहले कौन-सा तत्त्व था, इस विषय में भी विभिन्न दर्शनों में मतैक्य नहीं है। किसी के मन्तव्य के अनुसार सृष्टि से पहले जगत् असत् था—"असद्वा इदमग्र आसीत्।" दूसरे कहते हैं—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" अर्थात् हे सौम्य! जगत् सृष्टि से पहले सत् था। किसी का कहना है—"आकाशः परायणम्" अर्थात् सृष्टि से पूर्व आकाश-तत्त्व विद्यमान था। कोई इस मन्तव्य के विरुद्ध कहते हैं :—

"नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्।" "मृत्युनैवेदमावृतमासीत्"

सृष्टि से पहले कुछ भी नहीं था, सभी कुछ मृत्यु से व्याप्त था, अर्थात् प्रलय के समय नष्ट हो चुका था।

अभिप्राय यह है कि जैसे सृष्टि-रचना के संबंध में अनेक मान्यताएँ हैं, उसी प्रकार सृष्टिपूर्व की स्थिति के संबंध में भी परस्पर विरुद्ध मन्तव्य हमारे समक्ष उपस्थित हैं।

सृष्टिप्रक्रिया संबंधी इन परस्पर विरुद्ध मन्तव्यों की आलोचना जैनदर्शन में विस्तारपूर्वक की गयी है। उसे यहाँ प्रस्तुत करने का अवकाश नहीं। तथापि यह समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि इन कल्पनाओं के पीछे कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। यदि सृष्टि से पूर्व जगत् सत् मान लिया जाय तो उसके नये सिरे से निर्माण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। जो सत् है वह तो है ही। यदि सृष्टि से पूर्व जगत् एकान्त असत् था और असत् से जगत् की उत्पत्ति मानी जाये तो शून्य से वस्तु का प्रादुर्भाव स्वीकार करना पड़ेगा, जो तर्क और बुद्धि से असंगत है। इसी प्रकार सृष्टिनिर्माण की प्रक्रिया भी तर्कसंगत नहीं है।

इस विषय में जैन धर्म की मान्यता ध्यान देने योग्य है। जैन धर्म के अनुसार जड़ और चेतन का समूह यह लोक सामान्य रूप से नित्य और विशेष रूप से अनित्य है। जड़ और चेतन में अनेक कारणों से विविध प्रकार के रूपान्तर होते रहते हैं। एक जड़ पदार्थ जब दूसरे जड़ पदार्थ के साथ मिलता है तब दोनों में रूपान्तर होता है, इसी प्रकार जड़ के सम्पर्क से चेतन में भी रूपान्तर होता रहता है। रूपान्तर की इस अविराम परम्परा में भी हम मूल वस्तु की सत्ता का अनुगम स्पष्ट देखते हैं। इस अनुगम की अपेक्षा से जड़ और चेतना अनादिकालीन हैं, और अनन्त

काल तक स्थिर रहने वाले हैं। सत् का शून्य रूप मे परिणमन नही हो सकता, और शून्य से कभी सत् का प्रादुर्भाव या उत्पाद नही हो सकता है।

पर्याय की दृष्टि से वस्तुओ का उत्पाद और विनाश अवश्य होता है। परन्तु उसके लिए देव, ब्रह्म, ईश्वर या स्वयभू की कोई आवश्यकता नही होती, अतएव न तो जगत् का कभी सर्जन होता है, न प्रलय ही होता है। अतएव लोक शाश्वत है। प्राणीशास्त्र के विशेषज्ञ माने जाने वाले श्री जे० बी० एस० हाल्डेन का मत है कि —"मेरे विचार मे जगत् की कोई आदि नही है। सृष्टिविषयक यह सिद्धान्त अकाट्य है, और विज्ञान का चरम विकास भी कभी इसका विरोध नही कर सकता।"

पृथ्वी का आधार—प्राचीन काल के दार्शनिको के सामने एक जटिल समस्या और खडी रही है। वह है इस भूतल के टिकाव के सबध मे, यह पृथ्वी किस आधार पर टिकी है। इस प्रश्न का उत्तर अनेक मनीषियो ने अनेक प्रकार से दिया है। किसी ने कहा—"यह शेषनाग के फण पर टिकी है।" कोई कहते है, "कछुए की पीठ पर ठहरी हुई है", तो किसी के मत के अनुसार "वराह की दाढ पर।" इन सब कल्पनाओ के लिए आज कोई स्थान नही रह गया है।

जैनागमो की मान्यता इस सबध मे भी वैज्ञानिक है। इस पृथ्वी के नीचे घनोदधि (जमा हुआ पानी) है, उसके नीचे तनु-वात है और तनुवायु के नीचे आकाश है। आकाश स्वप्रतिष्ठित है, उसके लिए किसी आधार की आवश्यकता नही है।

लोकस्थिति के इस स्वरूप को समझाने के लिए एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया गया है। कोई पुरुष चमडे की मशक को वायु भर कर, फुला दे और फिर मशक का मुँह मजबूती के साथ बाँध दे। फिर मशक के मध्य भाग को भी एक रस्सी से कस कर बाँध दे। इस प्रकार करने से मशक की पवन दो भागो मे विभक्त हो जायेगी और मशक डुगडुगी जैसी दिखाई देने लगेगी। तत्पश्चात् मशक का मुँह खोल कर ऊपरी भाग का पवन निकाल दिया जाय और उसके स्थान पर पानी भर कर पुन मशक का मुँह कस दिया जाय, फिर बीच का बन्धन खोल दिया जाय, ऐसा करने पर मशक के ऊपरी भाग मे भरा हुआ जल ऊपर ही टिका रहेगा, वायु के आधार पर ठहरा रहेगा, नीचे नही जाएगा, क्योकि मशक के ऊपरी भाग मे भरे पानी के लिए वायु आधार रूप है। इसी प्रकार वायु के आधार पर पृथ्वी आदि ठहरे हुए है। भगवती सूत्र श० १, उ० ६।

स्थावरजीव—जैन धर्म वनस्पति पृथ्वी, जल, वायु और तेज मे चैतन्य शक्ति स्वीकार करके उन्हे स्थावर जीव मानता है। श्री जगदीशचन्द्र वसु ने अपने वैज्ञानिक परीक्षणो द्वारा वनस्पति की सजीवता प्रमाणित कर दी है। उसके पश्चात् विज्ञान पृथ्वी की जीवत्वशक्ति को स्वीकार करने की ओर अग्रसर हो रहा है। विख्यात भूगर्भ वैज्ञानिक श्री फ्रासिस ने अपनी दशवर्षीय भूगर्भयात्रा के सस्मरण लिखते हुए Ten years under earth नामक पुस्तक मे लिखा है कि—

"मैने अपनी इन विविध यात्राओ के दौरान मे पृथ्वी के ऐसे-ऐसे स्वरूप देखे है जो आधुनिक पदार्थविज्ञान मे विरोधी थे। वे स्वरूप वर्तमान वैज्ञानिक सुनिश्चित नियमो द्वारा समझाये नही जा सकते।"

इसके पश्चात् वे अपने हृदय के भाव को अभिव्यक्त करते हुए कहते है—

"तो प्राचीन विद्वानो ने पृथ्वी मे जीवत्वशक्ति की जो कल्पना की थी, क्या वह सत्य है ?"

श्री फ्रासिस भूगर्भ सबधी अन्वेषण कर रहे है। एक दिन वैज्ञानिक जगत् पृथ्वी की सजीवता स्वीकृत कर लेगा, ऐसी आशा की जा सकती है।

जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक आत्मा मे अनन्त ज्ञानशक्ति विद्यमान है, परन्तु जब तक वह कर्म द्वारा आच्छादित है, तब तक अपने असली स्वरूप मे प्रकट नही हो पाती। जब कोई सबल आत्मा आवरणो को नि शेष कर देती है, तो भूत और भविष्य वर्तमान की भॉति साफ दिखाई देने लगते है।

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० जे० बी० राइन ने अन्वेषण करके अनेक आश्चर्यजनक तथ्य घोषित किये है। उन तथ्यो को भौतिकवाद के पक्षपाती वैज्ञानिक स्वीकार करने मे हिचक रहे है, मगर उन्हे अमान्य भी नही कर सकते है। एक दिन वे तथ्य अन्तिम रूप मे स्वीकार किये जायेगे, और उस दिन विज्ञान आत्मा तथा सम्पूर्ण ज्ञान (केवल ज्ञान) की जैन मान्यता पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाएगा।

लोकोत्तर ज्ञान—ध्यान और योग जैन-साधना के प्रधान अग है। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार ध्यान और योग के द्वारा विस्मयजनक आध्यात्मिक शक्तियो की अभिव्यक्ति की जा सकती है। आधुनिक विज्ञान भी इस मान्यता को स्वीकार करने के लिए अग्रसर हुआ है। इस सबध मे प्रसिद्ध विद्वान् डा० ग्रेवाल्टर की The leaving brain नामक पुस्तक पठनीय है। वे कहते है —

अनेकान्त दृष्टि

दर्शन शास्त्र का उद्देश्य शुद्ध बोध की उपलब्धि और उसके द्वारा समस्त बन्धनो से विमुक्ति पाना है। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है, क्योंकि मुक्ति के बिना शाश्वत शान्ति की प्राप्ति नही हो सकती। बोध मुक्ति का साधन है, मगर यह भी स्मरणीय है कि वह दुधारी खड्ग है। ज्ञान के साथ अगर नम्रता है, उदारता है, निष्पक्षता है, सात्त्विक जिज्ञासा है, सहिष्णुता है, तो ही ज्ञान, आत्म-विकास का साधन बनता है। इसके विपरीत ज्ञान के साथ यदि उद्दडता, सकीर्णता, पक्षपात एव असहिष्णुता उत्पन्न हो जाती है तो वह अध पतन का कारण बन जाता है। मानवीय दौर्बल्य से उत्पन्न यह अवाछनीय वृत्तियाँ अमृत को भी विष बना देती है।"

जैनधर्म ने उस कला का आविष्कार किया है, जो ज्ञान को विषाक्त बनने से रोकती है। वह कला ज्ञान को सत्य, शिव, और सुन्दर बनाती है, उस कला को जैनदर्शन ने अनेकान्तदृष्टि का नाम दिया है, जिसका निरूपण पहले किया जा चुका है। यह दृष्टि परस्पर विरोधी वादो का साधार समन्वय करने वाली, परिपूर्ण सत्य की प्रतिष्ठा करने वाली और बुद्धि मे उदारता, नम्रता, सहिष्णुता और सात्त्विकता उत्पन्न करने वाली है। दार्शनिक जगत् के लिए यह एक महान् वरदान है।

अहिंसा

मानव जाति को मासभक्षण की अवाछनीयता एव अनिष्टकरता समझा कर मासाहार से विमुख करने का सूत्रपात जैन धर्म ने ही किया है। समस्त धर्मों का आधारभूत और प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा ही है। यह मन्तव्य बनाने का अवकाश जैन धर्म ने ही दिया है। जैनधर्म ने अहिसा को इतनी दृढता और सबलता के साथ अपनाया, और जैनाचार्यों ने अहिसा का स्वरूप इतनी प्रखरता के साथ निरूपण किया, कि धीरे-धीरे वह सभी धर्मों का अग बन गई। जैन धर्मोपदेशको की यदि सबसे बड़ी एक सफलता मानी जाय, तो वह अहिसा की साधना ही है। उनकी बदौलत ही आज अहिसा विश्वमान्य सिद्धान्त है। देश-काल के अनुसार उसकी विभिन्न शाखाएँ प्रस्फुटित हो रही है। जैन धर्म की, अहिंसा के रूप मे एक महान् देन है, जिसे विश्व के मनीषी कभी भूल नही सकते।

यो तो भगवान् ऋषभदेव के युग मे ही अहिसा तत्त्व, प्रकाश मे आ चुका था मगर जान पडता है कि मध्यकाल मे पुन हिंसा-वृत्ति उत्तेजित हो उठी।

तब बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि ने अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए जोरदार प्रयास किया। उन्होंने विवाह के लिए श्वसुरगृह के द्वार तक पहुँच कर भी पशु-पक्षियों की हिंसा के विरोध में विवाह करना अस्वीकार करके तत्कालीन क्षत्रिय-वर्ग में भारी सनसनी पैदा कर दी। वासुदेव कृष्ण के भाई अरिष्टनेमि का वह साहसपूर्ण उत्सर्ग सार्थक हुआ और समाज में पशुओं और पक्षियों के प्रति व्यापक सहानुभूति जागी। उनके पश्चात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने सर्प जैसे विषैले प्राणियों पर अपनी करुणा की वर्षा करके, लोगों का ध्यान दया की ओर आकर्षित किया। फिर भी धर्म के नाम पर जो हिंसा प्रचलित थी, उसे निश्शेष करने के लिए चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने प्रभावशाली उपदेश दिया। आज यद्यपि हिंसा प्रचलित है, फिर भी विचारवान् लोग उसे धर्म या पुण्य का कार्य नहीं समझते, बल्कि पाप मानते हैं। इस दृष्टिपरिवर्तन के लिए जैन-परम्परा को बहुत उद्योग करना पड़ा।

अवतारवाद

जैन धर्म के विशिष्ट सिद्धान्तों पर विचार करते समय एक बात अनायास ही ध्यान में आ जाती है। वह है उसके अवतारवाद की मान्यता।

आत्मा की चरम और विशुद्ध स्थिति क्या है, यह दर्शनशास्त्र के चिन्तन का एक प्रधान प्रश्न रहा है। विभिन्न दर्शनों ने इस पर विचार किया है और अपना-अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

बौद्धदर्शन के अनुसार चित्त की परम्परा का अवरुद्ध हो जाना, आत्मा की चरम स्थिति है। इस मान्यता के अनुसार दीपक के निर्वाण की भाँति आत्मा शून्य में विलीन हो जाता है।

कणाद मुनि का वैशेषिकदर्शन आत्मा की अन्तिम स्थिति मुक्ति स्वीकार करता है, पर उसकी मुक्ति का स्वरूप कुछ ऐसा है कि उसे समझ लेने पर अन्त-करण में मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा जागृत नहीं होती। कणाद ऋषि के मन्तव्य के अनुसार मुक्त आत्मा ज्ञान और सुख से सर्वथा वंचित हो जाता है। ज्ञान और सुख ही आत्मा के असाधारण गुण हैं और जब इनका ही समूल उच्छेद हो गया तो फिर क्या आकर्षण रह गया मुक्ति में ?

संसार में जितने अनादिमुक्त एकेश्वरवादी सम्प्रदाय हैं, उनके मन्तव्य के अनुसार कोई भी आत्मा, ईश्वरत्व की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता। ईश्वर एक अद्वितीय है। जीव जाति से वह पृथक् है। संसार में अधर्म की वृद्धि

और धर्म का ह्रास होने पर उसका संसार में अवतरण होता है। उस समय वह परमात्मा से आत्मा का रूप ग्रहण करता है। जैन धर्म अवतारवाद की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करता। जैन धर्म प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार प्रदान करता है। और परमात्मा बनने का मार्ग भी प्रस्तुत करता है, किन्तु परमात्मा के पुनः भवावतरण का विरोध करता है। इस प्रकार हमारे समक्ष उच्च से उच्च जो आदर्श संभव है, उसकी उपलब्धि का आश्वासन और पथप्रदर्शन जैनधर्म में मिलता है। वह आत्मा के अनन्त विकास की संभावनाओं को हमारे समक्ष उपस्थित करता है। जैन धर्म का यह प्रत्येक नर को नारायण, और भक्त को भगवान्, बनने का अधिकार देना ही उसकी मौलिक मान्यता है।

गुणपूजा

जैनधर्म सदैव गुणपूजा का पक्षपाती रहा है। जाति, कुल, वर्ण अथवा बाह्य वेष के कारण वह किसी व्यक्ति की महत्ता अंगीकार नहीं करता। भारतवर्ष में प्राचीन काल से एक ऐसा वर्ग चला आता है जो वर्णव्यवस्था के नाम पर अन्य वर्गों पर अपनी सत्ता स्थापित करने के लिए, तथा स्थापित की हुई सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए एक अखण्ड मानव जाति को अनेक खंडों में विभक्त करता है। गुण और कर्म के आधार पर, समाज की सुव्यवस्था का ध्यान रखते हुए विभाग किया जाना तो उचित है, जिससे व्यक्ति के विकास को अधिक-से-अधिक अवकाश हो परन्तु जन्म के आधार पर किसी प्रकार का विभाग करना सर्वथा अनुचित है।

"एक व्यक्ति दुःशील, अज्ञान और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर में जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊँचा समझा जाय, और दूसरा व्यक्ति सुशील ज्ञानी और सतोगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म लेने के कारण नीच और, तिरस्करणीय माना जाय, यह व्यवस्था समाज-घातक है। इतना ही नहीं, ऐसा मानने से न केवल समाज के एक बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है। प्रत्युत यह सद्गुण और सदाचार का भी घोर अपमान है। इस व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचार, सदाचार से ऊँचा उठ जाता है, अज्ञान, ज्ञान पर विजयी होता है और तमोगुण सतोगुण के सामने आदरास्पद बन जाता है। यही ऐसी स्थिति है जो गुणग्राहक विवेकी जनों को सह्य नहीं हो सकती।" (निर्ग्रन्थ प्रवचन भाष्य, पृष्ठ २८६)

अतएव जैन धर्म की मान्यता है कि गुणों के कारण, कोई व्यक्ति आदर-

णीय होना चाहिए और अवगुणो के कारण अनादरणीय एव अप्रतिष्ठित होना चाहिए। इस मान्यता के पोषक जैनागमो के कुछ वाक्य ध्यान देने योग्य है—

मस्तक मुडा लेने से ही कोई श्रमण नही हो जाता, ओंकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं बन सकता, अरण्यवास करने से ही कोई मुनि नही होता और कुश-चीर के परिधानमात्र से कोई तपस्वी का पद नही पा सकता।
(उत्तराध्ययन अ० २५ सूत्रकृताग १ श्रु०, अ० १३, गा० ९, १०, ११)।

समभाव के कारण श्रमण, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण, ज्ञान की उपासना करने के कारण मुनि, और तपश्चर्या मे निरत रहने वाला तापस कहा जा सकता है।

कर्म (आजीविका) से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है, और कर्म से शूद्र होता है।

मनुष्य-मनुष्य में जाति के आधार पर कोई पार्थक्य दृष्टिगोचर नही होता मगर तपस्या (सदाचार) के कारण अवश्य ही अन्तर दिखाई देता है।
(उत्तराध्ययन)

इन उद्धरणो से स्पष्ट होगा कि जैन धर्म ने जन्मगत वर्णव्यवस्था एव जाति-पाति की क्षुद्र भावनाओ को प्रश्रय न देकर गुणो को ही महत्त्व प्रदान किया है। इसी कारण जैन सघ ने मनुष्य-मात्र का वर्ण एव जाति का विचार न करते हुए समान-भाव से स्वागत किया है। वह आत्मा और परमात्मा के बीच मे भी कोई अलघ्य दीवार स्वीकार नही करता तो आत्मा-आत्मा और मनुष्य-मनुष्य के बीच कैसे स्वीकार कर सकता है।

अपरिग्रहवाद

ससार का कोई भी धर्म परिग्रह को स्वर्ग या मोक्ष का कारण नही मानता है। किन्तु सब धर्म एक स्वर से इसे हेय घोषित करते हैं। ईसाई धर्म की प्रसिद्ध पुस्तक बाइबिल का यह उल्लेख प्राय सभी जानते हैं कि —"सूई की नोक मे से ऊँट कदाचित् निकल जाय, परन्तु धनवान् स्वर्ग मे प्रवेश नही कर सकता।" परिग्रह की यह कडी-से-कडी आलोचना है। इधर भारतीय धर्म भी परिग्रह को समस्त पापो का मूल और आत्मिक पतन का कारण कहते है। किन्तु जैन धर्म मे अपरिग्रह को व्यवहार्य रूप प्रदान करने की एक बहुत सुन्दर प्रणाली निर्दिष्ट की गई है।

जैन संघ मुख्यतया दो भागो मे विभक्त है—त्यागी और गृहस्थ। त्यागी वर्ग के लिए पूर्ण अपरिग्रही, अकिंचन रहने का विधान है। जैन त्यागी संयम-साधना के लिए अनिवार्य कतिपय उपकरणो के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपने अधिकार मे नही रखता। यहाँ तक कि अगले दिन के लिए भोजन भी अपने पास नहीं रख सकता। उसके लिए अपरिग्रह महाव्रत का पालन करना अनिवार्य है।

गृहस्थवर्ग अपरिग्रही रहकर संसार-व्यवहार नही चला सकता और इस कारण उसके लिए पूर्ण परिग्रहत्याग का विधान नही किया गया है, उसे सर्वथा अनियन्त्रित भी नही छोडा गया है। गृहस्थ को श्रावक की कोटि में आने के लिए अपनी तृष्णा, ममता एवं लोभ-वृत्ति को सीमित करने के लिए परिग्रह का परिमाण कर लेना चाहिए। परिग्रह-परिमाण श्रावक के पाँच मूल व्रतों मे अन्यतम है। इस व्रत का समीचीन रूप से पालन करने के लिए श्रावक को दो व्रत और अंगीकार करने पडते है, जिसका भोगोपभोग परिमाण और अनर्थदंड-त्याग के नाम से गृहस्थधर्म के प्रकरण मे उल्लेख किया जा चुका है। परिमित परिग्रह का व्रत तभी ठीक तरह से व्यवहार मे आ सकता है, जब मनुष्य अपने भोग और उपयोग के योग्य पदार्थों की एक सीमा बना ले और साथ ही निरर्थक पदार्थों से अपना संबंध विच्छेद कर ले। इस प्रकार अपरिग्रह व्रत के लिए इन सहायक व्रतो की बडी आवश्यकता है।

अर्थतृष्णा की आग मे मानव-जीवन भस्म न हो जाय, जीवन का एकमात्र लक्ष्य धन न बन जाय, जीवन-चक्र द्रव्य के इर्द-गिर्द ही न घूमता रहे, और जीवन का उच्चतर लक्ष्य ममत्व के अंधकार में विलीन न हो जाय, इसके लिए अपरिग्रह का भाव जीवन मे आना ही चाहिए। यदि अपरिग्रह भाव जीवन मे आ जाय, और सामूहिक रूप मे आ जाय तो अर्थवैषम्यजनित सामाजिक समस्याएँ स्वत ही समाप्त हो जाती हैं। उन्हे हल करने के लिए समाजवाद या साम्यवाद या अन्य किसी नवीन वाद की आवश्यकता ही नही रहती।

जैन धर्म का यह अपरिग्रहवाद आधुनिक युग की ज्वलन्त समस्याओ का सुन्दर समाधान है, अतएव समाजशास्त्रियों के लिए अध्ययन करने योग्य है। इससे व्यक्ति का जीवन भी उच्च और प्रशस्त बनता है और साथ ही समाज की समस्याएँ भी सुलझ जाती है।



बिवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छई ॥

—द०, ९,२, २१।

नच्चा नमई मेहावी, लोए कित्ती से जायइ।
हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा ॥

—उत्तराध्ययन, अ० १, गा० ४५।

हे साधक! सभ्यता का मूल विनय है, अविनय नही। अत. अविनीत को विपत्ति प्राप्त होती है और सुविनीत को सम्पत्ति ये दो बाते जिसने जान ली है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

हे साधक! विनय के स्वरूप को जानने वाला सदा नम्र रहता है, और वह इस लोक मे कीर्ति प्राप्त करता है। जिस प्रकार पृथ्वी समस्त वनस्पति और प्राणियो के लिए आधार रूप है, उसी प्रकार विनीत पुरुष भी समस्त गुणो का आधार रूप होता है।

जैन-शिष्टाचार

जैन-शिष्टाचार

जैन धर्म भारत का एक प्राचीन धर्म है, जैन धर्म के २४ तीर्थंकर इसी भारत-भूमि मे उत्पन्न हुए हैं। जैन-समाज भारतीय समाज के साथ सदा अभिन्न रहा है, आर्यत्व के नाते जैन और जैन तीर्थंकर आर्यवश मे ही पैदा हुए हैं। जैन धर्म प्रारम्भ से ही कोई जातिगत धर्म नही बना, वह सदा से एक चिन्तनात्मक मुक्ति मार्ग के रूप में ही स्थित रहा है। सासारिक, राजनीतिक तथा शासनिक अहभावना अथवा अधिकार-एषणा का उसने कभी पोषण नही किया। भारतीय सभ्यता और आर्यसस्कृति को जैनो की बहुत महत्त्वपूर्ण देन है। पर वह आर्यत्व के अग-भूत होने के नाते पराई नही, और न ही आक्रामक रूप से बलात् थोपी गई है, अपितु जैन-धर्म के नाते निर्ग्रन्थ पथ का अनुयायी है, तथा जाति, वश, सभ्यता सस्कृति और रक्त के सम्बन्ध से आर्य है। जैन और जैनेतरो मे परम्परा से विवाह सम्बन्ध होते आये है, क्योकि जैन धर्म सामाजिक सम्बन्धो मे हस्तक्षेप नही करता, अत जैन शिष्टाचार और सभ्यता मे व भारतीय सभ्यता मे कोई मौलिक अन्तर नही है' फिर भी जैन धर्म के विचारो, सिद्धान्तो का जो अनुयायियो पर प्रभाव पडा है, उससे कतिपय विशेषताओ को जन्म मिला है। इसका कारण है जैन धर्म की विनय-शीलता। जैन धर्म मे विनय और समता पर अत्यधिक बल दिया है, प्रायश्चित्त, विनय, तथा वैयावृत्य (सेवाधर्म) को तप का अन्तर-स्वरूप बताया है। प्रायश्चित्त

से अहभाव का नाश होता है, और विनय से नम्रता तथा विवेक को बल मिलता है। जैन शिष्टाचार का अर्थ है विनय।[1]

ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के प्रति श्रद्धा रखना और इन गुणो के धारक के प्रति आदर रखना जैनागम मे बहुत बड़ा तप बताया है।[2]

मन, वचन, तथा काया को अप्रशस्त, पापकारी तथा घृणाकारक कार्य से हटाकर प्रशस्त, पुण्य-कारक तथा उपयोगपूर्वक उठने-बैठने की सभ्यता की ओर उन्मुख होना महान् तप बताया गया है।[3]

जैनागम मे लोकव्यवहार को ठीक ढंग से साधने के लिए भी लोकोपचार विनय[4] का उल्लेख किया है।

अध्यापक-गुरु की आज्ञापालन, आदर के साथ गुरु से व्यवहार करना, ज्ञानदान निमित्त नम्रतापूर्वक दान देना, दु खी जीवो के प्रति कोमल भाव रखना, देशकाल की विज्ञता और सब से प्रेममय आत्मीयपन के अनुकूल रूप से स्नेहभरा व्यवहार करना भी जैनधर्म के अनुसार धर्म की प्रधानतम सेवा है।

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, अरिहंत, सिद्ध, देव, धर्म, तथा गुरु के प्रति अशातना-अनादरभाव नही रखना ही जैन साधु और श्रावको का परम कर्त्तव्य है।

जैनशास्त्रो मे अशातना का बहुत विस्तृत वर्णन है, गुरु की अशातना ३२ प्रकार की बताई जाती है। गुरु के आगे खडा होना, गुरु के आसन पर बैठ जाना, गुरु के आगे चलना, तुकार का प्रयोग करना, आदि अनादर भावो का उल्लेख किया गया है।

इसी प्रकार विशिष्ट व्यक्तियो के प्रति भी जैनो के शिष्टाचार का ढग नियत है जैसे कि —

१. देव और गुरु के प्रति :—जैन श्रमणोपासक जब तीर्थंकर भगवान् को उपदेश सभा मे अथवा साधु के निवास स्थान पर जाता है, तो उसे पॉच बाते करनी चाहिएँ, जो जैन परिभाषा मे पॉच अभिगम के नाम से प्रसिद्ध है। वे ये है—

---

१. भगवती सूत्र, श० २५।
२ ,, ,, ,,
३. ,, ,, ,,
४. भगवती सूत्र श० २५।

१ फूलमाला सचित्त आदि वस्तुओ को हटा देना आवश्यक है।

२ अचित्त वस्तुओ का त्याग आवश्यक नही।

३ छत्र-चवर आदि ऐश्वर्य के चिह्न तथा जूता, छतरी आदि पदार्थ न ले जाना।

४ तीर्थकर या साधु पर दृष्टि पडते ही हाथ जोड़ना।

५ मन की चचलता त्याग कर एकाग्र होना। (भगवती सूत्र)

२ बन्दनापाठ—तीर्थकर या साधु के समक्ष पहुँच कर निम्नलिखित पाठ पढ कर उन्हे वन्दना की जाती है—

"तिक्खुत्तो आयाहिण, पयाहिण करेमि, वदामि नमसामि, सक्कारेमि, समाणेमि, कल्लाण मगल देवय चेइय पज्जुवासामि, मत्थएण वदामि।"

—आवश्यक सूत्र, सामायिक पाठ।

अर्थात्—भगवन्! मै तीन वार दक्षिण से आरभ करके प्रदक्षिणा करता हूँ, वन्दना करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, सन्मान करता हूँ। आप कल्याण और मंगल के रूप है। देवता स्वरूप है, चैत्य-ज्ञान स्वरूप है। मै आपकी पुन-पुन. उपासना करता हूँ। मस्तक झुका कर वन्दना करता हूँ।

३ श्रमणों का पारस्परिक शिष्टाचार—जैन सघ मे वन्दनीयता का आधार पर्यायज्येष्ठता है। अर्थात् प्रत्येक मुनि अपने से पूर्व दीक्षित मुनि को नमस्कार करता है। इसमे उम्र आदि किसी अन्य बात का विचार नही किया जाता। पुत्र यदि पहले दीक्षित हो चुका है और पिता पश्चात् दीक्षित हुआ है तो पिता अपने पुत्र को नमस्कार करेगा। सूत्रकृताग अ० २, उ० २ सूत्र मे बतलाया है कि चक्रवर्ती राजा भी यदि बाद मे मुनि दीक्षा ग्रहण करे तो उसका कर्त्तव्य है कि वह पूर्वदीक्षित अपने दास के दास को भी लज्जा और सकोच न करता हुआ वन्दना करे।

मुनि बन जाने पर मनुष्य का गृहस्थ जीवन समाप्त हो जाता है और एक नवीन ही जीवन का सूत्रपात होता है।

४ श्रावकों का पारस्परिक शिष्टाचार—शास्त्रीय उल्लेखो से पता चलता है कि प्राचीन काल मे श्राविकाएँ और श्रावक भी अपने से बडे श्रावक को वन्दना किया करते थे। —भगवतीसूत्र, १२शतक, शख-पोक्खली सवाद।

५ **पति-पत्नी सम्बन्धी**—दम्पति को पृथक् शय्या पर ही नहीं, अपितु पृथक्-पृथक् कक्षों मे शयन करना चाहिए। पत्नी जब पति के समीप आती है तो पति आदरपूर्ण मधुर शब्दों मे उसका स्वागत करता है। बैठने को भद्रासन प्रदान करता है। क्योंकि जैनागमो मे पत्नी पति की "धम्मसहाया", अर्थात् धर्मसहायिका मानी गई है।—उपासक दशांग।

६ **स्वामी-सेवक संबंधी**—जैन शास्त्रों मे सेवक का "कोडुम्बियपुरिस" अर्थात् कौटुम्बिक पुरुष परिवार का ही सदस्य के रूप मे उल्लेख किया गया है। सम्राट भी अपने सेवक को "देवाणुप्पिया" कह कर सबोधन करते है। देवाणुप्पिया का अर्थ है—"देवो के प्यारे।" कितना औदार्य, कितना माधुर्य है और कितना स्नेह भरा है, इन शब्दो मे।

"देवाणुप्पिया" शब्द सबोधन का सामान्य शब्द है। स्वामी सेवक को, सेवक स्वामी को, पति पत्नी को, पत्नी पति को और प्रत्येक प्रत्येक को प्राय. इसी शब्द से सबोधित करता है।

जैन पर्व

पर्व, धर्म और समाज के अन्तर्मानस की सामूहिक अभिव्यक्ति है। व्यष्टि और समष्टि के जीवन क्रम मे जिस विश्वास, धारणा तथा उत्साह की आवश्यकता पडती है, उसकी पूर्ति पर्वों से होती है। पर्व और उत्सव दोनो ही मानव की मूलभूत भूक संस्कार निर्माण, सभ्यता शिक्षण, और संस्कृति अभिव्यंजन का कार्य पूरा करते है, किसी भी धर्म अथवा समाज की आधारभूत पृष्ठभूमि को समझने के लिए पर्वों और उत्सवो को जान लेना अत्यावश्यक है। प्रत्येक धर्म के शास्त्र सिद्धान्त, और प्रतीक की तरह अपने मौलिक रूप मे पर्व भी होते है। दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक और सैद्धान्तिक विभिन्नता ही पर्वों की विभिन्नता का कारण है। जैनधर्म के भी कुछ अपने पर्व है। एक जैन भी वर्ष के किसी-न-किसी दिन को पर्व का रूप देकर अपने धार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार करता है। पर्वो का सीधा सम्बन्ध समाज-अनुयायी वर्ग से है, किन्तु पर्वों का मूल रूप धर्म के आन्तर विचारो से उत्प्रेरित होता है। जैन पर्व जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करते है जैन पर्व मानव से खेल-कूद, आमोद-प्रमोद, भोग-उपभोग अथवा हर्ष व विषाद की माँग नही करते, अपितु वे तो मनुष्य को तप, त्याग, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य प्रेम, विश्वबन्धुत्व तथा विश्व मैत्री की भावना को प्रोत्साहित करते है। जैन पर्वो को दो रूपो मे विभक्त किया जा सकता है, जैसे कि,

सवत्सरी-पर्यूषण पर्व, दशलक्षणीपर्व, आयम्बिलअष्टान्हिका, श्रुतपचमी, आदि तो धार्मिक पर्व है। महावीर जयती, वीर शासन जयन्ती, दीपावली, सलूनो(रक्षा-बधन) आदि सामाजिक पर्व है।

संवत्सरी—श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे सम्वत्सरी पर्यूषणपर्व को पर्वाधिराज कहा जाता है। जैन शास्त्रो मे पर्यूषण के दिनो मे से आठवे दिन सवत्सरी को धर्म का सर्वोच्च पवित्र दिन माना गया है। श्रमण सुधर्मा कहते है कि हे जम्बू ![1] इस पर्व को श्रमण भगवान् महावीर ने आषाढ पूर्णिमा से १ मास २० दिन के बाद मनाया था। चातुर्मास मे एक मास और २०वे दिन अर्थात् भाद्रपद शुक्ला ५ को सवत्सरी पर्व आता है। आत्म शुद्धि के इस महान पर्व को जैसे भगवान् मनाते है उसी प्रकार गौतम स्वामी, उसी प्रकार आचार्य, उपाध्याय तथा श्रीसघ मनाता है। सम्वत्सरी की रात का किसी भी प्रकार से उल्लघन नही करना चाहिए।

समवायाग[2] सूत्र मे सवत्सरी का समय निश्चित करते हुए यह भी बताया है कि चातुर्मास के ५० दिन बाद और ७० दिन शेष रहते सवत्सरी पर्व की आराधना करनी चाहिए।

सवत्सरी के आठ दिवसो को पर्यूषण कहते है। सम्वत्सरी और पर्यूषण दोनो मे केवल इतना ही अन्तर है, कि सवत्सरी आध्यात्मिक साधना-क्रम मे वर्ष का अन्तिम और सर्वप्रथम दिन का बोधक है, और पर्यूषण शब्द तप और वैराग्य साधना का उद्बोधक है। अत. सवसत्सरी का अर्थ है, वर्ष का आरभ और पर्यूषण का अर्थ है कषाय की शान्ति। आत्मनिवास तथा वैराग्यवृत्ति ।

पर्यूषण के अर्थ को प्रकट करने वाले आगमो मे कितने ही शब्द उपलब्ध होते है, जैसे कि पज्जूसणा, पज्जोसवणा, पज्जुसणा, आदि। पर्यूषण का शाब्दिक अर्थ है, पूर्ण रूप से निवास करना, आत्मरमणकरना और पज्जोसवणा का अर्थ है, कषायो की सर्वथा उपशान्ति । अनादिकालीन आत्मा मे स्थित विकारो का सर्वथा नाश करना, तथा ऊर्ध्वमुखी वृत्ति द्वारा ऊर्ध्वगमन करना ही पज्जोसवणा का वास्तविक अर्थ है। जैन साधु और साध्वी, इन आठ दिनो मे

---

१. कल्पसूत्र, "तेण कालेणं-समणे भगवं महावीरे वासाणं सवो सइराए मासे विइक्कन्ते वासावासं पज्जोसवेई ।"

२. समवायाग सूत्र, "समणे भगवं महावीरे वासाण सवीसई राइमासे वइक्कन्ते सत्तरिएंहि राइदिएंहि सेसेहि वासावासं पज्जोसवेई ।"

वर्ष भर मे लगे अतिचारो का आलोचन, केशलुंचन, पर्यूषणाकल्प वाचन, धर्मवृद्धि, भगवदाराधन अष्टम तप, तथा साम्वत्सरिक प्रतिक्रमण रूप छ उपक्रमो को अवश्य करते है। श्रावक और श्राविका इन दिनो में व्यावहारिक तथा जागतिक सम्बन्धो से अलग हट कर निरन्तर धर्म साधना तथा तपस्या मे लीन रहते है, और संवत्सरी के दिन तो जैन समाज का कोई भी बच्चा तक यथा शक्य,तप, स्वाध्याय और कथा-श्रवण के बिना नही रहते। आठ दिन तक कितने ही जैन, भाद्र कृष्णा १२ से भाद्र शुक्ला पचमी तक निर्जल और निराहार रहकर एक ही स्थान में ध्यान और स्वाध्याय मे ही पर्यूषण पर्व मनाते है। सम्वत्सरी के सायं प्रतिक्रमण के अवसर पर प्रत्येक जैन को चौरासी लाख जीवायोनि से मन, वचन, काया पूर्वक क्षमायाचना करनी पडती है। इस दिन भी जो क्षमायाचना नही मांगता है, और न ही क्षमा प्रदान करता है, वह जैन कहलाने का अधिकारी भी नहीं है। प्रेम मिलन, विश्व-मैत्री तथा विश्ववात्सल्य ही इस पर्व का मुख्य आधार है।

दशलक्षणपर्व—दिगम्बर सम्प्रदाय मे पर्यूषण पर्व के स्थान पर दश लक्षण पर्व मनाया जाता है। भाद्र शुक्ला पचमी से भाद्र शु० अनन्तचतुर्दशी तक इस पर्व की आराधना की जाती है। प्रतिदिन धर्म के दशलक्षणो का क्रमश विवेचन होता है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य रूप दशधर्मो का व्याख्यान, अभ्यास तथा तत्त्वार्थ सूत्र के दश अध्यायो का क्रमश स्वाध्याय किया जाता है। धर्म के विशाल वाड्मय मे धर्मके इन दशरूपो के लिए किसी भी धर्म मे कोई भेद नही है। मनु जी के धर्म के दश लक्षण, पद्मपुराण के यति धर्म और जैनधर्म के दश यतिधर्म परस्पर मे एक ही है। इन दिनो मे जैन भाई यथाशक्य व्रत पौषध उपवास आदि तप क्रिया का भी अनुष्ठान करते है। इन पर्वो के दिनो मे जैन समाज मे एक उत्साह छाया रहता है, और जैन मन्दिर धर्मस्थान तथा स्वाध्याय भवन जनता से खचाखच भरे रहते है। अनतचतुर्दशी के दिन किसी किसी स्थान पर विराट् जलूस भी निकाला जाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का पर्यूषण पर्व और दिगम्बर सम्प्रदाय का दशलक्षण पर्व परिपूर्ण हिंसा के विरुद्ध जैन जाति का सामूहिक अभियान है। अत प्राचीनकाल से जैन इन दिनो मे अन्य प्रकार की हिसा कसाई खाने आदि भी बंद करवा देते है। सम्राट् अकबर ने तो आचार्य हीरविजय सूरीश्वर के उपदेश से प्रभावित होकर अपने साम्राज्य मे इन दिनों मे हिंसा बन्द करवा दी थी। इसी प्रकार आज भी भारत के कितने ही प्रान्तो मे सम्वत्सरी को हिंसा बन्द रहती है।

अष्टान्हिका पर्वः—तथा आयंबिल—ओली पर्वः—दिगम्बर सम्प्रदाय—

में कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अन्तिम आठ दिनो मे सिद्ध भगवान् की आराधना तथा स्वाध्याय रूप धार्मिक क्रियाएँ उत्साह के साथ की जाती है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे चैत्र और असौज मे सप्तमी से पूनम तक ९ दिन आयंबिल तप की साधना की जाती है। हजारो जैन भाई और बहिन आयम्बिल तप करते हैं। आयम्बिल तप का अर्थ है अम्ल रस से रहित भोजन, जिसमे रस, गंध, स्वाद, घृत, दुग्ध, छाछ आदि किसी भी प्रकार से मिश्रित नही किया जाता है। जैन वर्ग की आस्वाद साधना का यह बहुत विचित्र और उपयोगी उपक्रम है।

श्रुत पंचमी—दिगम्बर सम्प्रदाय मे इस पर्व को आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि के द्वारा निर्मित "षट् खण्डागम" नामक सिद्धान्त ग्रन्थ की परिसमाप्ति के रूप मे और स्वाध्याय प्रेरणा मे इसे मनाया जाता है। ज्येष्ठ शु० पचमी को उन्होने यह ग्रन्थ सघ को समर्पित किया था, साधिक सम्मान श्रुत ज्ञान के प्रति बढे, यही इसका उद्देश्य है।[1]

श्वेताम्बरो मे श्रुत पञ्चमी कार्तिक शुक्ला पचमी को मनाई जाती है। श्रुताराधना और श्रुत ज्ञान के प्रति अटूट निष्ठा तथा विनय प्रकट करना ही इसका उद्देश्य है।

महावीर जयन्ती—चैत्रशुक्ला त्रयोदशी के दिन श्रमण भगवान् महावीर की जन्म जयन्ती जैन समाज मे धूमधाम के साथ मनाई जाती है। इस वर्ष तो महावीर जयन्ती, अमेरिका, इगलैण्ड आदि मे भी मनाई जाने लगी है। इस दिन विशाल समारोह के साथ चौवीसवे तीर्थंकर महावीर के जीवन, सिद्धान्त तथा दर्शन तथा धर्म के विषय मे मनन किया जाता है। उत्सव, जलूस, भाषण आदि का रोचक रूप से कार्यक्रम रहता है। आजकल महावीर जयन्ती राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण करती जा रही है।

इसी प्रकार अन्य २३ तीर्थंकरो की सामान्यतया जयन्तियाँ मनाई जाती है।

दीपावली—श्रावण पूर्णिमा, दशहरा, दीपावली तथा होली भारत के राष्ट्रीय पर्व है। चारो वर्णो के अनुसार प्रत्येक पर्व का एक-एक व्यावहारिक और धार्मिक सन्देश है। क्रमश. जैसे कि ज्ञान, क्षात्रत्व, लक्ष्मी और मनोरजन तथा

---

१. ज्येष्ठसित पक्ष पंचम्यां चातुर्वर्ण्य संघ संभवतः।
सत्पुस्तकोपकरणै र्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम्॥ १४३
(इन्द्रनन्दि श्रुतावतार)

शुद्धि और धार्मिक रूप मे तपस्या, ब्रह्मचर्य, आत्मज्ञान (लक्ष्मी) तथा आत्मा शुद्धि दीपावली भी भारत का प्रसिद्ध तथा लोकव्यापी त्योहार है। तो भी दीपावली का ऐतिहासिक उद्गम रूप विवरण किसी ग्रथ मे उपलब्ध नही होता है।

किन्तु श्वेताम्बर[1] आगमो और दिगम्बर पुराणो[2] मे इस सम्बन्ध मे विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। आशय दोनो का एक है। श्रमण महावीर के निर्वाण के समय नव लिच्छवि और नव मल्लि राजाओ ने पौषध व्रत कर रखा था। कार्तिक अमावस्या का दिन था। रात्रि के समय भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया। उस समय राजाओ ने आध्यात्मिक ज्ञान के सूर्य महावीर के अभाव मे रत्नो के प्रकाश से उस स्थान को देदीप्यमान किया था। परम्परागत उसी प्रकार जनता दीप जलाकर उस परम ज्ञान की उपासना कर प्रेरणा प्राप्त करती है, इसी का नाम दीपावली है। यही कारण है कि दीपावली पर्व जैनो के लिए महत्त्वपूर्ण पर्व है।

सलूनो रक्षा बन्धन–ब्राह्मण लोगो के हाथो मे राखियाँ बाँधते समय, इस पर्व का महत्त्व तथा इतिहास प्रतिपादक श्लोक पढा करते है, जिसका आशय है कि "जिस राखी से दानवो का इन्द्र महाबली बलिराजा बाँधा गया उससे मैं तुम्हे बाँधता हूँ, अडिग और अडोल होकर मेरी रक्षा करो।"[3]

बलिराजा की कथा वामानवतार के प्रसग मे उद्धृत अवश्य हो गई है, किन्तु इसमे रक्षा बधन के महत्त्व का अनुभव नही मिलता है। जैन साहित्य मे इसी पर्व के सम्बन्ध मे कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। जैन साधुओ से घृणा और द्वेष रखने वाले बली को महाराज पद्म से उपकृत रूप से वरदान पूर्ति के निमित्त सात दिन का राज्य मिल गया था, अकस्मात् अकम्पनाचार्य अपने सात सौ शिष्यो सहित उधर आ निकले, बलि को बदला लेने का अवसर प्राप्त हुआ। उसने मुनि सघ को एक बाड़े मे घेर कर पुरुषमेध यज्ञ मे बलि करने की ठानी।

ऐसे सकट काल मे एक वैक्रिय लब्धिधारी मुनि विष्णुकुमार से प्रार्थना की गई कि आप ही इस मुनि सघ पर आये सकट को दूर कीजिए। तपस्या मे लीन विष्णुकुमार मुनि, मुनि वर्ग की रक्षा निमित्त नगर मे आये और अपने भाई पद्मराज

---

१. कल्पसूत्र। २. हरिवंश।

३. येन बद्धो बली राजा, दानवेन्द्रो महाबली।
तेन त्वामपि बध्नामि रक्ष मा चल मा चल॥

को समझाया कि भाई, इस कुरुवंश में तो साधुओं का आदर होता आया है, किन्तु इस प्रकार का पापकारी कुकृत्य नहीं हुआ।

पद्मराजा को दुःख तो बहुत था, किन्तु वह वचनबद्ध था, अतः उसने अपनी विवशता बताई। विष्णुकुमार मुनि बलि के पास पहुँचे और उससे मुनि संघ के लिए स्थान माँगा। बलि ने कहा कि अच्छा मैं ढाई कदम जगह देता हूँ, उसमें रह लो। इस पर विष्णुकुमार जी को रोष हुआ और अपनी शक्ति का चमत्कार उन्होंने वहाँ प्रगट किया, और एक पैर सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर, और तीसरा कदम बीच में लटकने लगा। यह देख कर पृथ्वीवासी जन अत्यन्त क्षुब्ध हो गए, बलि क्षमा माँगने लगा, राज्य उसने वापस कर दिया, और समूचा संकट टल गया।

मुनिजनों पर संकट आया देख कर लोगों ने अन्न-जल का त्याग कर दिया था। संकट टलने पर मुनि जब घर नहीं आये तो लोग भोजन कैसे करें। सात सौ मुनि जितने घर आ सकते थे, उतने घर गये और बाकी ने श्रमणों का स्मरण कर, प्रतीक बना कर भोजन किया, अतः उसी दिन से रक्षाबंधन के दिन दोनों ओर मनुष्य का चित्र बना कर राखी बाँधने की प्रथा चल पड़ी। इस प्रथा को आज भी उत्तर भारत में "सौन" कहते हैं सौन शब्द "श्रमण" का ही अपभ्रंश है।[1]



१. "जैन धर्म" कैलाशचन्द्र शास्त्री।